जैन साहित्य में

प्रतिक्रमण

अनुपम परम्परा

लेखक : डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन

जैन साहित्य में

प्रतिक्रमण

अनुपम परम्परा

लेखक

डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन

प्रकाशक

जैन साहित्य सेवा बिक्री केन्द्र

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर

नया बाजार, लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.)

प.पू. गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महाराज के राष्ट्रीय रजत पदारोहण वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

कृति - जैन साहित्य में प्रतिक्रमण अनुपम परम्परा

आशीर्वाद - प.पू. गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी महाराज

लेखक - डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन

प्रति - 1000

वर्ष - 2017

मूल्य - 50/- रूपये (पुनः प्रकाशन हेतु)

प्रकाशक - जैन साहित्य सेवा बिक्री केन्द्र श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, नया बाजार, लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.)

मुद्रक - जैन प्रिन्टिग प्रेस,
साबूजी का बाड़ा दाल बाजार, लश्कर, ग्वालियर
फोन : 0751-2400160

अवतरणिका

संत रहें इस जगत में, नीरज सम निर्लिप्त,
अतएव जन गण करें, उन्हें श्रद्धा से अभिषिक्त।
ज्ञान ज्योति से जो करें, दूर तिमिर अज्ञान
त्याग और परोपकारिता, संतों की पहचान ।।

प्राचीन काल से ही भारतीय वसुंधरा अनेक जैन संतों से सुशोभित रही है। वर्तमान समय में अनेक जैन संत महानतम् अपने ज्ञान और वैराग्य से तप-साधना से भारतीय वसुंधरा को निरंतर पावन कर रहे हैं। ऐसे ही जैन संतों की श्रृंखला में अद्वितीय प्रतिभा के धनी, वात्सल्य मूर्ति, तत्वचिंतक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, साहित्य महोदधि, दर्शन-ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ज्ञान के दृष्टा परिसित्त चिंतन के विचारों के प्रणेता, वाड्.गमय वाक् नेता के प्रज्ञप्राज्ञमय शिल्पी, सत्त्वेषु मैत्री की अवधारणा को सवंर्द्धित करने वाले प. पू. श्रमणरत्नाकर राष्ट्रसंत युगप्रमुख श्रमणाचार्य, युग प्रतिक्रमण प्रवर्तक गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी महाराज का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुमुखी है। आपने उत्कृष्ट साधना से अपने अन्तरंग को विकसित किया है। आपका जीवन सरोवर नहीं, वरन् भागीरथी की बहती धारा की भ्रांति है। आपकी प्रत्येक श्वांस में प्रगति का स्वर स्फुटित होता हैं, सदा अभिनव कल्पना और नये उत्साह के सरस सुमन खिलते रहते हैं। अतीत के प्रति अपार आस्था होने पर भी नेत्रों में भविष्य का विश्वास और उल्लास है। आपने पूर्वकाल के आचार्य संघों में होने वाले युग प्रतिक्रमण - यति सम्मेलन जो पाँच वर्षो में संघ को संगठित कर किया जाता था, वर्तमान में वह परम्परा विलुप्त हो रही थी, ऐसे युग प्रतिक्रमण - यति सम्मेलन की परम्परा को सन् 2012 में पुनर्जीवित किया है।

युग प्रतिक्रमण–यति सम्मेलन का स्वर्णिम इतिहास यद्यपि राजस्थान की गुलाबी नगरी जयपुर में रचा गया था, लेकिन तभी से धर्म जिज्ञासुओं के मन में बार बार यह जिज्ञासा उत्पन्न हो रही थी कि आखिर यह युग प्रतिक्रमण क्या है? इसी जिज्ञासा की सम्पूर्ति हेतु संघस्थ साधुजनों ने मुझे शोध आलेख लिखने की प्रेरणा प्रदान की और गुरूवर का आशीष लेकर युग प्रतिक्रमण–यति सम्मेलन का अन्वेषण आगम साहित्य में किया तथा लेख तैयार कर गुरू चरणों में प्रस्तुत किया ।

पाँच वर्ष के उपरान्त अब वही मंगलमय सुअवसर बुन्देलखण्ड की झांसी नगरी में आने वाला था। सौभाग्यवश गुरूवर का ससंघ ग्वालियर नगरी में प्रवास हुआ। यहाँ प्रतिक्रमण विषय पर विस्तार से संदर्भ सहित आलेख लिखने की प्रेरणा मिली। यद्यपि अल्प समय था, स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं था। फिर भी गुरूवर के आशीर्वाद से अनुप्राणित होकर काल लब्धि का परिपाक और शुभ मुहूर्त योग पाकर मैंने प्रतिक्रमण परम्परा पर लेखन कार्य को विस्तार दिया और उस आलेख को अतिशय तीर्थक्षेत्र करगुंवा जी में प्रवास कर रहे गुरूवर के कर कमलों में सादर प्रस्तुत किया। गुरूवर ने उसका अवलोकन कर अति प्रसन्नता व्यक्त कर मेरा प्रोत्साह सम्वर्धन किया साथ ही अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा कि इसे पुस्तकाकार स्वरूप में परिवर्तित कर प्रकाशन करवाया जाय ताकि सभी इस परम्परा से अवगत हों और प्रतिक्रमण करने की प्रेरणा पा सकें ।

प्रतिक्रमण करने का यद्यपि मुख्य कारण यह है कि आत्मा में साम्यभाव, आत्मविशुद्ध भावना और समस्त जीवमात्र में मैत्री भावना की जागृति रहे। इसलिए पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक और पूज्य मुनीश्वर आदि निरंतर करतें हैं। मुनिजनों के लिए यह षट्‍ावश्यक का एक अंग है। कर्मो

से छुड़ाने में प्रतिक्रमण ही प्रथम साधन है। पापों की स्वीकृति का नाम प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण में स्वयं की चेतना का बोध हो जाता है। यह आत्मालोचन आत्म प्रक्षालन की प्रक्रिया है। प्रवृत्त जनों को अपने दोषों का प्रक्षालन कर जीवन को निर्मल बनाए रखने हेतु अपने दोषों और दुर्गुणों पर दृष्टि डालते रहना अनिवार्य है। प्रस्तुत कृति में प्रतिक्रमण क्या है, प्रतिक्रमण का व्युत्तिकरण अर्थ, प्रतिक्रमण की विभिन्न परिभाषायें, प्रतिक्रमण की परम्परा, युग प्रतिक्रमण-यति सम्मेलन की परम्परा, आवश्यकता, लाभ आदि विषयों पर जैनागम साहित्य के आधार पर विविध आयामों से निरूपण करने का किंचित मात्र प्रयास किया है। प्रस्तुत कृति में प्रयुक्त ग्रन्थों के संदर्भ एवं ग्रन्थों की सूची को अन्त में प्रस्तुत किया है।

प. पू. गणाचार्य श्री जी के वात्सलयमयी आशीष से मात्र प्रेरणा ही नहीं मिली वरन् प्रकाश मिला, संबल मिला, कुछ करने के लिए बल भी मिला तथा पू. मुनि श्री विशोकसागर जी महाराज एवं पू. मुनि श्री विभंजन सागर जी महाराज जी ने कृति प्रकाशन हेतु आर्शीवाद प्रदान किया। वीतराग भगवान को कोटिशः नमन् कर हम समस्त आचार्यो के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए सुधी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करतें हैं। क्योंकि ग्रन्थों के आधार से ही लेखन संभव हो सका, अतः हम हृदय से उनके आभारी हैं। अपने जीवन साथी श्री अशोककुमार जी मोदी एवं बिटिया आरती, आराधना के प्रति हृदय से अति कृतज्ञ हूँ कि समय-समय पर लेखन कार्य में अपूर्व सहयोग प्रदान किया और साहित्य उपलब्ध करवाया यदि साहित्य उपलब्ध नहीं होता तो लेखन संभव नहीं था, साथ ही प्रूफ रीडिग, टाइपिंग आदि में भी योगदान प्रदान किया।

प. पू. गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के आज्ञानुवर्ती

शिष्य पू. मुनि श्री विश्रुतसागर जी महाराज एवं पू. मुनि श्री विश्वाससागर जी महाराज का चातुर्मास श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर नया बाजार लश्कर ग्वालियर में सम्पन्न हुआ था। उस समय आपकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से एक जैन साहित्य सेवा बिक्री केंन्द्र की स्थापना की गयी थी। गुरूओं के आशीर्वाद से यह केन्द्र सुचारू रूप से संचालित है। इस सेवा केन्द्र ने इस कृति का प्रकाशन कराने का निर्णय लिया। सीमित समय में कृति का प्रकाशन कार्य करवाया। हम इस सेवा केन्द्र के पदाधिकारियों श्री राजेश जैन एवं अशोक जैन के आभारी हैं तथा उनका हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। कृति के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने अपनी सहृदयता से आंशिक सहयोग प्रदान किया, उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। प्रस्तुत कृति के संयोजन, व संपादन लेखन में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो सुधीजन हंसवत् गुणग्राही दृष्टि रखकर सम्यक् ज्ञान लाभ प्राप्त करें। इसी विनय के साथ –

तप त्याग का पाठ पठाया, जिसने धर्म की राह बताई ।
अज्ञानमयी अंधकार मिटाने, ज्ञान की ज्योति जलाई ।
भूल सकेंगे कैसे हम आचार्य श्री जी के ये उपकार
रजत आचार्य पदारोहण बेला पर, गुरूवर को सौ-सौ नमन् हमार।।

इत्यलम्

दिनांक : 21 मई 2017

डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन

पता:
डॉ. शिवहरे के पास, गणेश कालोनी
नया बाजार लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.) 474009
फोन – 0751 2320118

-- समर्पण --

श्रमण संस्कृति की परमोज्वला धारा के जीवन्त साधक
विरागोदय के सृजक, श्रमण, श्रमणिका के मार्गदर्शक
शब्दगंगा के रसक तीर्थक्षेत्र न्यासक हितोपदेशक
मन के पारदर्शक, व्यक्ति परीक्षक युग प्रतिक्रमण प्रर्वतक
आत्मदर्शक, चारित्र, नायक
आराध्य की आराधना के रुचक
वीतराग साधना के अविराम पथिक
स्वाध्याय साधक ग्रंथियों के मोचक
साहित्यिक चेतन, अचेतन कृतियों के सृजक
मंगल कामना के शतक, लोक व्यवहार के दीपक
निश्चय व्यवहार के समदर्शक
दिव्यप्रकाश में रवि शशि से अधिक
टीकाकार सिद्धान्त रत्नाकर आदर्श चारित्र नायक
आचार्य कुन्द कुन्द की परम्परा के उन्नायक
निर्यापक पंचाचार मुक्त आत्मान्वेषी
पुरातन के समर्थतम आधुनात्मक व्याख्याकार
आत्मधर्म के सम्यक् प्रवर्तनीयकार
राष्ट्र संत प.पू. सूरीगच्छाचार्य गणाचार्य
युगप्रमुख 108 श्री विराग सागर जी महाराज के आचार्य
पदारोहण राष्ट्रीय रजत वर्ष के उपलक्ष्य में समर्पित

आंशिक सहयोग

1. श्री निर्मल कुमार नवीन कुमार जी, नुना टीकमगढ़
2. कु. आराधना जैन, गणेश कॉलोनी, नया बाजार, ग्वालियर
3. श्री अर्पित जैन पत्नी आरती जैन, ललितपुर
3. श्री प्रमोद कुमार जी गुप्ता, सिटी सेन्टर, ग्वालियर
4. श्री राजेश जैन, मैनावाली गली, ग्वालियर
5. श्री डॉ. एस.एम. जैन, नया बाजार, ग्वालियर
6. श्री शशीकांत जी पोद्दार, मनीष मेडीकल, नया बाजार, ग्वालियर
7. श्री मानिकचंद जी जैन एडवोकेट, श्री यतीश जैन नया बाजार, ग्वा.
8. श्री पदमचंद जी जैन, निशा जैन, नया बाजार, ग्वालियर
9. श्री नरेशकुमार जी सिंघई, नया बाजार, ग्वालियर
10. श्री डॉ. ए.के. जैन, मुस्कान हॉस्पिटल हुजरात पुल नया बाजार, ग्वा.
11. श्री दीपक शर्मा पुत्र श्री कौशल शर्मा, फोर्ट रोड, ग्वालियर
12. आनन्द एम्पोरियम, नई सड़क ग्वालियर

आत्मादेव गुरुन् त्वा साक्षिणो दोष शुद्धये।
मनोवाक्काय संशुद्धया क्रियेन व्यंप्रतिक्रमं ।।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में श्रमण संस्कृति का अप्रतिम स्थान है। यह संस्कृति त्याग - तपस्या मूलक है तथा अपनी उदात्तवृति के कारण वैदिक संस्कृति के धर्मग्रन्थों, वेद, भागवत और उपनिषदों में भी अनेकत्र निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन श्रमणों के तपश्चरण की महत्ता का बहुमान पूर्वक उल्लेख किया गया है। निर्ग्रन्थ श्रमणों की त्याग और तपस्या कठोर होती है, वे ज्ञान और विवेक का अनुसरण करते हैं। ऐसे श्रमण ही श्रमण संस्कृति के प्रतीक हैं, जिन्होंने आत्म साधना का जो उत्कृष्टतम आदर्श लोक में विद्यमान किया है तथा अहिंसा की प्रतिष्ठा द्वारा आत्म निर्भयता प्राप्त की, उससे श्रमण संस्कृति का गौरव आज भी सुरक्षित है। श्रमण संस्कृति ने अपने आचार पक्ष से विश्व को अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त और स्याद्वाद आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की अपूर्व देन प्रदान की है, उससे भारतीय निर्ग्रन्थ सन्त श्रमण परम्परा यशस्वी हुई है, और हो रही है।

जैनागम के ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी काल में श्रमण संस्कृति के आद्य प्रतिष्ठापक तीर्थंकर ऋषभदेव हुये हैं। जिन्होंने श्रमणाचार को चतुर्थ दुषमा-सुषमा काल में प्रथम धारण कर श्रमण निर्ग्रन्थ परम्परा को प्रवहमान किया और श्रमण संस्कृति को उज्जीवित तथा पल्लवित भी किया। तीर्थंकर ऋषभदेव जी के पश्चात् अन्य तेईस तीर्थंकर और हुये उन्होंने भी श्रमण संस्कृति के दीप

में समय-समय पर स्निग्ध प्रदान कर उसे अधिक प्रदीप्त किया है। तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी जी के निर्वाण के उपरान्त तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली हुए, इनमें भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। ये सभी चौदह पूर्व और ग्यारह अंग के ज्ञाता थे। तदन्तर उसी अविच्छिन्न परम्परा में विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य ग्यारह अंगों और दस पूर्वों के धारक हुए। अनन्तर नक्षत्राचार्य आदि पाँच आचार्य ग्यारह अंगों के परिपूर्ण और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इसके पश्चात् सुभद्राचार्य आदि चार आचार्य उसी अविच्छिन्न परम्परा के आचारांग के पूर्ण ज्ञाता तथा शेष अंग पूर्वों के एकदेश के धारक हुये। अनन्तर एकांगधारी पाँच आचार्य अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि हुए। इन पाँच आचार्यों को श्रुत के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर एकदेश उसी अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से अंग पूर्वों के धारक बतलाया गया है। साथ ही इसी श्रमण संस्कृति में ऐसे अनेकों ज्योतिर्धर आचार्य व प्रभावक श्रमण मुनि हुए जिन्होंने इस संस्कृति की गौरव गरिमा को वृद्धिंगत करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रारम्भ से ही श्रमण संस्कृति का आचार पक्ष त्याग, तपस्या मूलक उच्च आदर्श की पराकाष्ठा का प्रतीक रहा है। आचार जीवन की रीढ़ है, साधना का मूल है। आचार शुद्धि के बिना विचार शुद्धि सम्भव नहीं है और विचार शुद्धि के बिना जीवन विकास, आत्मोत्थान एवं निर्वाण सभी एक कल्पना मात्र होते हैं। जैनाचार मानव को अन्तर्दर्शन की प्रेरणा देता है। जैनाचार की प्रत्येक साधना अन्तर्दर्शन की साधना है। जिस साधना से आत्मा सहज व स्थायी सुख का अनुभव करे, कर्ममल को नष्ट कर अजर-अमर पद प्राप्त करे तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की रत्नत्रयमयी अध्यात्म ज्योति प्रज्ज्वल हो वह 'आवश्यक' क्रिया द्वारा ही सम्भव है। अन्तर्दृष्टि सम्पन्न साधक की साधना का लक्ष्य आत्मशोधन ही होता है। जीवन शुद्धि और दोष

परिमार्जन का 'आवश्यक' जीवन्त भाष्य है। 'आवश्यक' में प्रतिक्रमण का विधान है। 'प्रतिक्रमण' आत्म प्रक्षालन का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। जैनाचार में 'प्रतिक्रमण' का विशिष्ट स्थान है। इसमें प्रथम श्रेणी मुनीश्वरों के लिए है तथा दूसरी श्रेणी श्रावकों के लिए नियत है। परन्तु दिगम्बर जैन परम्परा में गृहस्थ श्रावकों में यह क्रिया अनिवार्य रूप में प्रचलित नहीं है। फिर भी जिन गृहस्थों ने श्रावकों के व्रतों को अंगीकार कर लिया है उनके लिए 'प्रतिक्रमण' आवश्यक है क्योंकि जो व्रत लेते हैं वे सजग तो रहते हैं, किन्तु लिये गये व्रतों में अतिचार, अनाचार से जो दोष लग जाते हैं उन्हें 'प्रतिक्रमण' के माध्यम से सहज ही समाप्त किया जा सकता है क्योंकि दोषों से निवृत्ति के लिये 'प्रायश्चित' विधि भी पूर्ण करना आवश्यक होती है। दोषों के प्रक्षालन के लिए 'प्रतिक्रमण' के साथ 'प्रायश्चित' भी ग्रहण किये जाते हैं। यद्यपि 'प्रतिक्रमण' करने का पात्र कौन है ? इसका प्रतिपादन करते हुए जैनागम में आचार्यों ने उल्लेख करते हुए लिखा है कि-

एसो पडिक्कमण विहि पण्णत्तो जिणवरेहिं सव्वेहिं।
संजम तवट्ठियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ।।

अर्थात् यह 'प्रतिक्रमण' विधि संयम-तप में स्थित निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए समस्त जिनवरों के द्वारा प्ररूपित है।

प्रतिक्रमण का व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से अर्थ - प्रतिक्रमण जैन परम्परा का एक अति विशिष्ट शब्द है। जिनागम में प्रतिक्रमण की सामान्य व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि - 'प्रतिक्रमण' शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है - प्रति + क्रमु = प्रतिक्रमण। यहाँ पर 'प्रति' उपसर्ग है और 'क्रमु' धातु है। 'प्रति' का अर्थ - प्रतिकूल है और 'क्रमु' का अर्थ पद निक्षेप है। दोनों का समन्वित अर्थ हुआ - जिन कदमों से बाहर गये हैं,

उन्हीं कदमों से वापस लौट आयें। जिन प्रवृत्तियों से साधक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम रूप पर स्थान में चला गया हो उसका पुनः अपने आप (स्वस्थान) में लौट आना प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है।[1] अथवा सम्पूर्ण चेतना को समेट लेना 'प्रतिक्रमण' है। जैसे सूर्य संध्याकाल के समय अपनी समस्त किरणों को वापिस बुला लेता है, अपने में समेट लेता है, वैसे ही 'प्रतिक्रमण' के द्वारा साधक अपनी विस्तृत हुई समस्त चेतना को जहाँ-जहाँ विस्तारित हुई हैं, उस विस्तृति को वापिस बुला लेना, पुनः लौटना। अतएव 'प्रतिक्रमण' का अर्थ – चलना, अपनी ओर वापिस लौट आना है। प्रतिक्रमण साधक जीवन की एक अपूर्व क्रिया है, स्वभाव या ठहराव नहीं है। दोष क्षेत्रों से वापस आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आने का क्रम 'प्रतिक्रमण' है। अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशा में चले गये थे, तो पुनः स्वभाव रूप सीमाओं में प्रत्यागमन करना 'प्रतिक्रमण' है।[2]

जिस बिन्दु पर प्रमाद घटित होता है, सीमा से बाहर गति होती है, वहाँ से लौटकर मूलस्थिति में पहुँचना प्रतिक्रमण की निष्पत्ति है। प्रतिक्रमण अर्थात् सामने जाना, स्मरण कर जाना, फिर से देखकर जाना ऐसा इसका अर्थ हो सकता है। भाव की अपेक्षा से जिस दिन, जिस समय प्रतिक्रमण करने के लिए बैठें, उस समय से पहले उस दिन जो-जो दोष हुए हैं, उन्हें एक के बाद एक अन्तरात्म भाव से देख जाना और उनका पश्चाताप करना या दोषों का स्मरण कर जाना इत्यादि यह सामान्य अर्थ प्रतिक्रमण का है।[3] असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा अणु से पूर्ण की ओर गति करना प्रतिक्रमण का अर्थ है। प्रतिक्रमण एक स्नान है, जो आत्मा के मल को प्रक्षालित कर उसे पवित्र बना देता है। 'प्रतिक्रमण' के बिना आत्मशुद्धि सम्भव नहीं है।

प्रतिक्रमण के समानार्थक (पर्यायवाची) शब्द - श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयागिरिवृत्ति प्रभृत्ति ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के विषय में अति विस्तार सहित चर्चा की गई है। **पडिकमणं पडियरणा परिहरणा वारणा नियत्ती य । निन्दा गरिहा सो ही, पडिकमणं अट्ठहा होई।**[4] अर्थात् प्रतिक्रमण के उन्होंने आठ समानार्थक शब्द प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि बतलाये हैं। जो विभिन्न अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि आठों शब्दों का भाव एक है। आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने प्रतिक्रमण के पर्यायवाची (समानार्थक) जो नाम दिए हैं, वे इस प्रकार हैं -

1. **प्रतिक्रमण** - पापाचरण के क्षेत्र में प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना अथवा पर-स्थान में गये हुए साधक का पुनः स्व-स्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है।

2. **प्रतिचरणा** - हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना। असंयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त सावधान होकर विशुद्धता सहित संयम का पालन करना प्रतिचरणा है। आवश्यक चूर्णि में '**अत्यादरात् चरणापडिचरणा अकार्य परिहारः कार्य प्रवृत्तिश्च**' लिखा है।

3. **परिहरणा (प्रतिहरणा)** - सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना परिहरणा (प्रतिहरणा) है।

4. **वारणा** - वारणा का अर्थ निषेध है। इसलिए विषय-कषायों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण के अर्थ में वारणा शब्द का प्रयोग हुआ है। निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना वारणा है।

5. निवृत्ति – निवृत्ति का जैन साधना में अत्यन्त महत्त्व रहा है। **'अशुभ भाव-नियत्तणं नियन्ती'** अशुभ भावों से निवृत होना निवृत्ति है।

6. निन्दा - गुरु-जन, वरिष्ट-जन, अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिए पश्चात्ताप करना निन्दा है। पापों व दोषों की निन्दा करने के अर्थ में निन्दा शब्द का व्यवहार हुआ है।

7. गर्हा – अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना गर्हा है। गर्हा में दोषों/पापों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप होता है।

8.शुद्धि – शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध किया जाता है, इसलिए इसे शुद्धि कहा गया है।

प्रतिक्रमण का स्वरूप – जिन शासन में जीवों को दोषों से दूर कर शुद्धता प्राप्त करने का विधि परक उपदेश विश्रुत है। मानव को अपनी जीवन यात्रा में पद-पद पर अन्तरंग व बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन एक श्रेयोमार्गी के लिए आवश्यक है। मनुष्योचित व्यवहार और स्वभाव से साधु भी सर्वथा मुक्त नहीं होते हैं। अनेक सावधानी रखते हुए भी किसी प्रकार के प्रमाद हो जाने की भी आशंका उन्हें रहती ही है किन्तु साधक साधु ऐसी स्थिति में अशुभ प्रवृत्तियों से शीघ्र परावर्तित होकर शुभ प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो जाते हैं। यह आवश्यक क्रिया प्रतिक्रमण कहलाती है। प्रतिक्रमण जैन धर्म का प्राण है। विभिन्न आचार्यों ने इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। आचारसार ग्रन्थ में कहा है कि –

निन्दनं गर्हणं कृत्वा द्रव्यादिषु कृतागसाम्।
शोधनं वाङ्मनः कायैस्तत्प्रतिक्रमणं मतम्।।

प्रतिक्रमण के विषय में मूलाचार ग्रंथ में लिखा है कि –

द्रव्य खेत्ते काले भावे य कयावरा हसोहयणं।
णिंदणगरहण जुंत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।।[5]

अर्थात् – निन्दा गर्हा पूर्वक मन, वचन, काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है। हरिवंशपुराण में लिखा है कि –

द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कृत प्रमाद निर्हरणम्।
वाङ्कायमनः शुद्धया प्रणीयते तु प्रतिक्रमणम्।।[6]

अर्थात् – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये हुए प्रमाद का मन, वचन, काय की शुद्धि से निराकरण करना सो प्रतिक्रमण है। मूलाचार प्रदीप में इसे ही विस्तृत रूप में इस प्रकार परिभाषित किया है –

द्रव्य क्षेत्रादिकैः र्भावै, कृतापराध शोधनम्।
स्व निंदा गर्हणाभ्यां यत् क्रिया तत्र मुमुक्षुभिः।।
मनोवाक्काययोगैश्च कृत कारितमाननैः।
तत्प्रतिक्रमणं प्रोक्तं व्रतदोषापहं शुभम्।।[7]

अर्थात् – मोक्ष की इच्छा करने वाले जो मुनि मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से द्रव्य क्षेत्रादिक भावों से उत्पन्न हुए अपराधों को शुद्ध करते हैं उसे व्रतों के दोषों को दूर करने वाला शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं। उपर्युक्त परिभाषाओं में अपराध किस विषय में हो सकते हैं ?.........और उनका निराकरण कैसे करें? इस जिज्ञासा का समाधान किया है। मूलाचार प्रदीप की व्याख्या में कृत – स्वयं करना, कारित – दूसरों से करवाना, अनुमोदना – करने वालों को प्रोत्साहित

करना। इनसे उत्पन्न होने वाले अपराधों को प्रतिक्रमण से दूर किया जाता है। भगवती आराधना की विजयोदया नामक टीका में आचार्य अपराजित सूरि ने कहा है – **हिंसादि-भेदेन सावद्य योग विकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमणम्।**[8]

अर्थात् – हिंसादि के भेद से सावद्य-योग के भेद करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमण है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पूर्वक किये हुए दोषों, अपराधों का मन, वचन और काय से निन्दा (आत्मालोचन या अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रगट करना) और गर्हा (गुरु आदि के समक्ष अपनी भूलों को प्रगट करना) के द्वारा शोधन करना प्रतिक्रमण है अथवा प्रमाद पूर्वक किये गये अतीत कालीन दोषों का निराकरण करना 'प्रतिक्रमण' है। समय पाहुड में वर्णित है कि – जैनाचार में 'प्रतिक्रमण' दोषों को दूर करने का मुख्य साधन है। इसमें पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा संवर पूर्वक हो तो तब ही वह निर्जरा मान्य है। संवर रूप समस्त व्रत, संयम, शील, तप, आराधना आदि प्रतिक्रमण की कोटि में आ जाते हैं, क्योंकि वे जीव को प्रमाद जनित दोषों से दूर रखते हैं। वर्तमान में लगे दोषों को दूर करना और भविष्य में लगने वाले दोषों को दूर करना और भविष्य में न लगने वाले दोषों को न होने देने के लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण का मुख्य उद्देश्य है।

प्रतिक्रमण अमृत कुम्भ – प्रमादवश ही सही मन, वचन अथवा काया से किये गये, कराये गये अथवा अनुमोदित पाप कर्म से जब साधु अवगत हो जाता है, तो वह प्रायश्चित करता है, उसकी आलोचना करता है और अपने आचरण को संशोधित करता है, पुनः शुभोन्मुखी हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण पतन क्रम को स्थगित कर देता है और साधक को पुनः

ऊर्ध्वगति प्रदान करता है। विशिष्टता यही है कि करणीय का नहीं किया जाना और अकरणीय का किया जाना ये दोनों ही समान रूप से प्रतिक्रमण की अपेक्षा रखते हैं उदाहराणार्थ – हिंसादि साधु के लिए अकरणीय हैं। प्रमादवश यदि साधक इनमें ग्रसित हो जाय तो प्रतिक्रमण करना पड़ता है। साथ ही सामायिक आदि करणीय हैं, यदि साधक इनमें प्रवृत्त नहीं होता है तो ऐसी स्थिति में भी उसके लिए अशुभ की प्रवृत्ति मानी जायेगी और उसे प्रतिक्रमण करना होगा। जिनशासन में जितने मूल ग्रन्थ हैं उनमें दोषों को दूर कर शुद्धता को प्राप्त कराने वाले उपायों को अमृत कुम्भ माना है। अतः प्रतिक्रमण भी धर्म का मूल व अमृत कुम्भ है। श्रवणवेलगोल स्थित समय पाहुड की ताड़पत्रीय प्रति के मूल पाठ में आचार्य श्री ने कहा है –

पड़िकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरूहा सोहो अट्ठविहो अमयकुंभो दु।।[१]

आठ प्रकार के लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना अमृत कुम्भ है। जो इस प्रकार है

प्रतिक्रमण – पूर्व में किये हुए दोषों का निराकरण (अवलोकन) करना तथा दण्डकों का पाठ करना प्रतिक्रमण है।

प्रतिशरण (सारण) – सम्यक्त्वादि गुणों में प्रवृत्ति करना प्रतिशरण है।

प्रतिहरण (हारण) – मिथ्यात्व और रागद्वेषादि दोषों से निवृत्ति होना प्रतिहरण है।

धारणा – पंच नमस्कार आदि मंत्रों से चित्त को स्थिर करना धारणा है।

निवृत्ति – चित्त के अन्यत्र जाने पर उसे वहाँ से लौटाना निवृत्ति है अर्थात् अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्त होना निवृत्ति है।

निन्दा – अपने से जो दोष हो गया है उसके लिए स्वयं मन में ऐसी भावना होना कि 'खेद' है मुझ से ऐसा दोष हो गया निन्दा है।

गर्हा – गुरु के समक्ष उपर्युक्त भावना प्रकट करना गर्हा है।

शुद्धि – प्रायश्चित आदि के द्वारा आत्मा के शोधन को शुद्धि कहते हैं। शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जैसे वस्त्रों पर लगे दाग को साबुन, पेट्रोलादि से साफ किया जाता है वैसे ही प्रमादवश लगे दोषों को प्रतिक्रमण के द्वारा दूर किया जाता है। इसलिए उसे शुद्धि कहा है।

तिलोयपण्णत्ति में आचार्य श्री कहते हैं कि –

पडिकमणं पडिसरणं परिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदणगरुहण सोही लब्भंति णियाद भावणए।।[10]

अर्थात् – निजात्मा भावना से प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये आठ रूप शुभक्रिया शुभोपयोग हैं। यदि ये समस्त क्रियाऐं आत्मशुद्धि के लक्ष्य से की जावें तो मोक्षमार्ग में साधन रूप हैं। ये समस्त सम्यक् क्रियाऐं अमृत तुल्य हैं। समय पाहुड में वर्णित है कि – प्रतिक्रमण में कर्मो के अकर्तृत्व का भाव है और वह अमृत कुम्भ है। सम्यग्दृष्टि के प्रतिक्रमण निर्जरा रूप है। कदाचित् किसी शुभोपयोगी श्रमण के करुणा भाव से पुण्य बन्ध हो जाये तो तीर्थकर प्रति इत्यादि रूप होता है जो निर्वाण का हेतु है और परम्परा से अमृतमयी मोक्ष को प्राप्त कराता है। अतएव प्रतिक्रमण को साक्षात् व परम्परा से अमृत कुम्भ समझना चाहिए।

प्रतिक्रमण व्रतातिचार (दोष) शोधनार्थ – जीवन यात्रा के लिए सबसे बड़ा पाथेय है – व्रत। व्रत का अर्थ किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक निर्णय है। 'व्रत' शब्द प्रज् धातु से घ प्रत्यय (जस्यत:)

पूर्वक निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ प्रतिज्ञा पालन अथवा साधना करना होता है।[11] 'व्रत' की उत्पत्ति 'व्र' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ रक्षण करना है। कोश में व्रत के अर्थ - संकल्प विधि, शुभ प्रवृत्ति में संलग्नता, भक्ति या साधना का धार्मिक कार्य, उपासना, कर्त्तव्य परायणता, अनुष्ठान, तपस्या सम्बन्धी कर्म, पुनीत कार्य, संस्कार, अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य का पालन करना, अशुभ कार्य से निवृत्ति अर्थात् हिंसा आदि पापों से निवृत्ति आदि है।[12] इन अर्थों से स्पष्ट होता है कि व्रत एक पवित्र क्रिया या अनुष्ठान है, जो साधक की आंतरिक मनोदशा या प्रवृत्ति के परिवर्तन में सक्षम होता है, जिससे साधक अपनी चर्या, आचरण को संकल्प पूर्वक दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करके पावन-पवित्र बना लेता है। व्रत का मूल उद्देश्य जीवनशैली को परिमार्जित करना है, जिससे कि अशुभ, अमंगल एवं पापों को जीवन से हटाकर शुभाचरण करते हुए आत्म विशुद्धि पूर्वक मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हुए आगे वृद्धिगंत हो सकें। अध्यात्म चेतना का जागरण व्रत की निष्पत्ति है। अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण करने की क्षमता का विकास करना ही व्रतों की निष्पत्ति है।

व्रत समुद्र की भाँति अपार हैं, किन्तु उन्हें ग्रहण करते समय सीमा करनी पड़ती है। यह गुरु की साक्षी से किया गया आत्मिक शुभ-संकल्प है। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने व्रत की परिभाषा करते हुए कहा है कि - प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। यथा यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है, इस प्रकार नियम करना व्रत है।[13] परमात्म प्रकाश में आचार्य - **व्रतं कोऽर्थः। सर्व निवृत्ति परिणामः** अर्थात् सर्व निवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं।[14] और आचार्य श्री सोमदेव जी ने -

संकल्प पूर्वकः सेव्यो नियमो व्रत मुच्यते ।

प्रवृत्ति निवृत्ति र्वा सद सत्कर्म सम्भवो।।[15]

अर्थात् – सेवनीय वस्तु का संकल्प पूर्वक करना व्रत है अथवा अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति और बुरे कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहा है।

व्रत जीवन निर्माण की प्रक्रिया है और चरित्र निर्माण का उपक्रम है। जिस प्रकार सतत् प्रगति प्रवाहित होने वाली सरिता के प्रवाह को नियंत्रित रहने के लिए दो तटों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन को नियंत्रित, मर्यादित बनाये रखने हेतु व्रतों की आवश्यकता होती है। जीवों के परिणाम निरन्तर एक से नहीं रहते, कभी कषायों की मंदता तो कभी तीव्रता रहती है। ऐसी मानसिक तारतम्य रूप स्थिति में निरन्तर ग्रहण किये हुए व्रतों की रक्षा हेतु स्वाध्याय चिन्तन करते रहते हैं। यदि व्रतों में दोष लग जाते हैं तो परिणामों के शोधन के द्वारा अथवा प्रतिक्रमण-प्रायश्चित ग्रहण कर आत्मशुद्धि करते हैं। जिसने पूर्व में निर्दोष आचरण की प्रतिज्ञा की हो, संकल्प किया हो, व्रत लिया हो वही दोष लगने पर प्रतिक्रमण अवश्य करता है। जैन धर्म में व्रतों से युक्त जो है, उसे व्रती कहा है। व्रती दो तरह के होते हैं – एक सागार श्रावक जिन्हें आगारी कहते हैं ये अणु अर्थात् एक देश व्रत का पालन करते हैं, दूसरे अनगारी जिन्हें मुनि, श्रमण भी कहते हैं, जो महान् व्रतों का पालन करते हैं। **व्रतेषु या काचिद् विराधना सा सर्वापि त्यक्तव्या तदेव प्रतिक्रमणं जायते।** अर्थात् व्रतों में जो कुछ भी विराधना है, उस सभी का त्याग करना चाहिए, तभी प्रतिक्रमण होता है। विराधना से आशय क्या है ?इसको नियमसार प्राभृत ग्रन्थ में पृ. 197 पर स्पष्ट किया है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध व्रतों में, छह आवश्यक क्रियाओं में और केशलोंच आदि सात शेष व्रतों में जो कुछ भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार होता है, वह विराधना शब्द से कहा जाता है। छः आवश्यक क्रियाओं में जो समय का उल्लंघन करना या कृतिकर्म विधि से न करना है, सो भी विराधना है। व्रती लोग अपनी भूल सुधार हेतु

प्रतिक्रमण करते हैं और नवीन जीवन का प्रारम्भ करते हैं। जैन ग्रन्थों में प्रतिक्रमण की परिभाषा में इसकी भी व्याख्याऐं की हैं –

1. **व्रतारोपणं प्रतिक्रमणम्।**[16]

अर्थात् व्रतों में प्रस्थापित होना प्रतिक्रमण है।

2. **प्रतिक्रमणं व्रतातिचार निर्हरणं।**[17]

अर्थात् व्रतों में लगे हुए अतिचारों को दूर करना प्रतिक्रमण है।

3. **व्रताद्यतिचार शोधनं प्रतिक्रमणम्।**[18]

अर्थात् व्रत आदि के अतिचारों का शोधन प्रतिक्रमण है।

4. **पंच महाव्वएसुचउरासीदिलक्खण गुण गण कल लिएसु।**
समुप्पण कलंक पक्खालणं पडिक्कमणं णाम।।[19]

अर्थात् चौरासी लाख गुणों के समूह से संयुक्त पाँच महाव्रतों से उत्पन्न हुए मल को धोने का नाम प्रतिक्रमण है।

5. **पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणो पच्चक्खाणस्सा गमणं पडिक्कमणं।**[20]

अर्थात् – प्रत्याख्यान (त्याग/संयम) से अप्रत्याख्यान को प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यान को प्राप्त होना प्रतिक्रमण है।

6. **प्रतिक्रमणं कृतकारितानुमताति चारान्निवर्तनम्।**[21]

अर्थात् – कृत, कारित और अनुमोदना से हुए अतिचार को दूर करना प्रतिक्रमण है।

7. **असंयम स्थानं प्राप्तस्य यतेस्तस्मात् प्रति निवर्तनं यत् वर्ण्यते तत्प्रतिक्रमणं।**[22]

अर्थात् – असंयम स्थान को प्राप्त हुए यति का उस असंयम स्थान से निवृत्त होना प्रतिक्रमण कहलाता है।

8. यस्मिन क्षेत्रे च कालादौ द्रव्य भावाश्रयेण यः।
जातो व्रताद्यती चारो मायां त्यक्वात देवसः ।।
निहिताव्यः प्रयत्नेन निंदा गर्हा शुचादिभिः ।
गुर्वादि साक्षिकं दक्षै वृंतध्नोऽरि रिवोत्यितः ।।[23]

अर्थात् – जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिन द्रव्यों से और जिन भावों से व्रतों में अतिचार उत्पन्न हुआ है, वह सब चतुर मुनियों को छल–कपट छोड़कर निंदा, गर्हा और शुचिता के साथ गुरु आदि की साक्षी पूर्वक बड़े प्रयत्न से दूर करना चाहिए तथा उस दोष को, व्रतों को नाश करने वाले शत्रु के समान समझकर उनका निराकरण करना चाहिए।

अहिंसादि व्रतों में जो दोष लगते हैं, उनका शोधन करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण वह मंत्र है – जिससे व्रत के दूषण धुलते हैं एवं आत्मा स्वच्छ होती है।

प्रतिक्रमण पूर्वकृत दोषों के निराकरणार्थ – प्रतिक्रमण आत्मलोचन की प्रक्रिया और निःशल्य होने की महान विधि है। पूर्वकृत दोषों का मन, वचन, काय से कृत, कारित, अनुमोदना से विमोचन करना, पश्चाताप करना प्रतिक्रमण कहलाता है, इससे अनात्म भाव नष्ट होकर आत्म भाव की जागृति होती है। विभिन्न ग्रंथों में पूर्वकृत दोषों के निराकरणार्थ प्रतिक्रमण को निरूपित किया है। यथा–

1. अतीतकाल दोष निर्हरणं प्रतिक्रमणम्।[24]

अर्थात् – अतीत काल के दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

2. अतीतकाल विषयातीचार शोधनं प्रतिक्रमणम्।[25]

अर्थात् – अतीतकाल विषयक अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

3. कृतानां कर्मणां पूर्व सर्वेषां पाकमीयुषां।

आत्मीयत्व परित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यंते।[26]

अर्थात् - पूर्व किये हुए कर्मों के प्रदत्त फलों को अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता है।

4. **अतीत दोष परिहारार्थं यत्प्रायश्चितं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम्।**[27]

अर्थात् - अतीतकाल के दोषों का परिहार करने के लिए जो प्रायश्चित किया जाता है, वह प्रतिक्रमण है।

5. **प्रतिक्रमणं कृत दोष निराकरणं।**[28]

अर्थात् - किये हुए दोषों का निराकरण करना ही प्रतिक्रमण है।

6. **कृत दोष निराकरणं प्रतिक्रमणम्।**[29]

अर्थात् - लगे हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

7. **स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वकृत दोष विशोधना।**[30]

अर्थात् - किये हुए दोषों की विशुद्धि को प्रतिक्रमण कहते हैं।

8. **कृत दोष निराकरणे हेतु भूतं प्रतिक्रमणम्।**[31]

अर्थात् - किये हुए दोषों के हेतु निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

9. **- अतीत दोष निवर्तनं प्रतिक्रमणम्।**[32]

अर्थात् - कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है।

उक्त व्याख्याओं से स्पष्ट है कि इनके भाव लगभग एक ही हैं, शब्द व रचनाएं भिन्न-भिन्न हैं। भूतकाल (अतीत) विषयक अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है। इसका तात्पर्य है कि वर्तमान और भविष्य में पाप या गलती करना ही नहीं, सावधान रहना और अतीतकाल (भूतकाल) में हुए अपराधों का निराकरण करना अथवा निराकरण करने हेतु प्रायश्चित लेना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण प्रमाद जन्य दोषों के निराकरणार्थ - अप्रमाद के पथ पर चलने के लिए साधक को एक सजग प्रहरी की भाँति सचेष्ट रहना पड़ता है। वह अपनी समस्त प्रवृत्तियों को यत्नाचार पूर्वक क्रियान्वित करता है। जैन श्रमण साधक अपनी चर्या में बहुत ही सावधानी रखते हैं। छोटी से भी छोटी गलती वे जान-बूझकर नहीं करते हैं। यदि फिर भी गलती से भी कोई गलती हो जाए, तो उसके लिए प्रतिक्रमण करते हैं। जैनाचार्यों ने विभिन्न ग्रन्थों में प्रतिक्रमण की कतिपय परिभाषाओं में 'प्रमाद' विशेष शब्द प्रयुक्त किया है। प्रमाद से तात्पर्य किसी भी प्रवृत्ति में असावधानी, अविस्मृति, अनेकाग्रता, अजागृति, अश्रद्धा, अनुत्साह या अनादर, आलस्य, अहंकारादि कषाय, विषयाशक्ति का दौर न हो, राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता भी न होना है। प्रमाद अन्तरंग में शुद्धात्मानुभव से विचलित करने रूप और बाह्य में मूलगुणों व उत्तरगुणों में मलिनता उत्पन्न करने वाला है। जैन श्रमणों (साधुओं) से यह प्रमादि वृत्ति भी तीव्र कर्मोदय में होती है, बुद्धिपूर्वक स्वीकृत व्रत नियमों को भंग करके पश्चात् प्रतिक्रमण करने की क्रिया साधु पद के योग्य नहीं है, यह जैन संस्कृति का विधान नहीं है। अज्ञानता या प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषों के लिए विशिष्ट रूप से आगम ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है -

1. **दुर्निवार-प्रमादारि-प्रयुक्ता दोषवाहिनी।**
प्रतिक्रमण दिव्यास्त्र प्रयोगादाशु नश्यति।।[33]

अर्थात् - दुर्निवार प्रमाद रूपी शत्रु से प्रेरित अतिचारों की सेना प्रतिक्रमण रूपी दिव्य अस्त्र के प्रयोग से शीघ्र नष्ट हो जाती है।

2. **कर्मवश प्रमोदोदय जनितं मिथ्यामे दुष्कृत मित्येवमाद्यभि व्यक्तः प्रकाराः प्रतिक्रमण मुच्यते।**[34]

अर्थात् - कर्मवश या प्रमाद आदि से हुए दोषों का 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' इस रूप से प्रतिकार करना प्रतिक्रमण है।

3. **प्रतिक्रम्यते प्रमादकृत दैवसिकादि दोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं।**[35]

अर्थात् - प्रमाद के द्वारा किये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

4. **प्रमादा प्राप्त दुःखेभ्यः प्रत्यावृत्य गुणावृत्तिः।**
स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृत विशोधना।।[36]

अर्थात् - प्रमाद के निमित्त से जो दोष या अपराध उत्पन्न हुआ करते हैं, उनसे आत्मा को बचाए रखना अर्थात् वे दोष आत्मा में उत्पन्न न होने देना और गुणों की तरफ उसकी प्रवृत्ति रखना प्रतिक्रमण कहा है।

5. **जीवे प्रमाद जनिताः प्रचुराः प्रदोषा यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।**
तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं वक्ष्ये विचित्रभव कर्म विशोधनार्थम्।।[37]

अर्थात् - जीव में प्रमाद से उत्पन्न हुए बहुत से उत्कृष्ट दोष प्रतिक्रमण से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मुनियों के बोध के लिए और नाना प्रकार के सांसारिक कार्यों कर्मों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण कहा है।

6. **द्रव्य क्षेत्रे काले भावे च कृत प्रमाद निर्हरणम्।**
वाक्काय मनः शुद्धया प्रणीयते तु प्रतिक्रमणम्।।[38]

अर्थात् - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये हुए प्रमाद का मन, वचन, काय की शुद्धि से निराकरण करना वह प्रतिक्रमण है।

7. स्वस्थानाद् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमाणं भूयः प्रतिक्रमण मुच्यते ।।[39]

अर्थात् - प्रमाद के वश हुए साधु अपने स्थान से पर स्थान को प्राप्त होते हैं। जब वे (जिस क्रिया से) पुनश्चः अपने स्थान को प्राप्त होते हैं, उसे (उस क्रिया को) प्रतिक्रमण कहते हैं।

8. गु-समिइ-पमाए गुरुणो आसायणा विणय-भंगे।
इच्छाई णमकरणे लहुस मुसाऽदिन्नमुच्छासु ।।
अविहीइ कास-जंभिय-खुय-वायासंकिलिट्ठकम्मेसु।
कंदप्प-हास-विगहा-कसाय-विसयाणुसंगेसु।।
ग्ब्रलिस्स य सव्वत्थ वि हिंसणावज्जओ जयन्तस्स।
सहसाऽणाभोगेण व मिच्छाकारो पडिक्कमणं।।[40]

अर्थात् - तीन गुप्तियों व पाँच समितियों के विषय में प्रमाद करना, गुरु की आसादना/ तिरस्कार करना, विनय का भंग करना/अविनीत आचरण करना, इच्छाकार व मिथ्याकार आदि का न करना, सूक्ष्म असत्य भाषण, सूक्ष्म अदत्त ग्रहण एवं सूक्ष्म ममत्व बुद्धि आदि तथा विधि के बिना काश (खांसी), जंभई, छींक, वात कर्म - ऊर्ध्ववायु व अपानवायु और असंक्लिष्ट कर्म-छेदन, भेदन आदि में तथा कन्दर्प (अशिष्ट भाषण), हास्य, विकथा, कषाय एवं विषयानुसंग में शीघ्रता के कारण अथवा उपयोग न होने से स्खलित होने पर मिथ्याकार करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

उक्त परिभाषा में प्रमाद का स्वरूप भी स्पष्ट हो रहा है।

इस प्रकार अतिचारों की शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करने की जैन श्रमण संस्कृति में आदर्शमयी परम्परा है, किन्तु इस दुःखमा पंचम काल

में समस्त प्रकार के अनाचार इत्यादि दोषों के लिए भी प्रतिक्रमण ही किया जाता है।

प्रतिक्रमण मिच्छा मे दुक्कडम् – जैन परम्परा में 'प्रतिक्रमणं मिच्छा मे दुक्कडम्' नाम से अति प्रसिद्ध है। जैनागम में आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में इस शब्द को विशिष्ट रूप से प्रयुक्त किया है, ये व्याख्याऐं निम्नांकित प्रकार की हैं –

1. अज्ञान या प्रमाद से लगे हुए दोषों को 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' मेरे दोष गुरु के प्रासाद से मिथ्या होवें, ऐसा कहना प्रतिक्रमण है।[41]

2. **दोष मुच्चार्योंच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्तु इत्येवमादिरभिप्रेतः प्रतिकारः प्रतिक्रमणम्।**[42]

अर्थात् – दोष का बार-बार उच्चारण कर मेरा पाप मिथ्या हो, इस प्रकार कहकर अपनी इच्छानुसार उसका प्रतिकार करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

3. **मिथ्या मे दुष्कृत मिति प्रायोऽपायै-र्निराकृतिः।**
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः ।।[43]

अर्थात् – संसार से भीरू (भयभीत) और विषय-भोगों-शरीरादिक से विरक्त चित्त साधु के द्वारा मेरा सम्पूर्ण दुष्कृत मिथ्या हो जाए, इस प्रकार के उपायों से किये हुए अपराध के निराकरण किये जाने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

4. **मिथ्या दुष्कृताभिधानादभिव्यक्त-प्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्।**[44]

अर्थात् – 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।

5. अभिव्यक्त प्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभि।[45]

अर्थात् – 'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु' आदि शब्दों के द्वारा जिसमें प्रतिकार प्रकट किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

6. प्रतिक्रमण मिथ्या दुष्कृत सं प्रयुक्तः।[46]

अर्थात् – अपने से किये हुए दुष्कृत के विषय में 'यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इस प्रकार के भावों का संप्रयोग होने को अथवा वचन के द्वारा प्रयुक्त ऐसे विचारों को प्रतिक्रमण कहते हैं।

7. निजदोष मुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्त्विवति प्रकटीकृत – प्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्।[47]

अर्थात् – स्वयं के दोषों का बारम्बार उच्चारण करके – मेरे दुष्कृत मिथ्या हों, इस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करना प्रतिक्रमण है।

8. इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं, जो मे देवसिओ/राइओ अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उमग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुविंचितिओ, दुचिट्ठिओ, अणायारो अणिच्छियव्वो, असमण-पाउग्गो/असावगपाउग्गो, नाणे तह दंसणे, चरित्ते, सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं......समणाणं जोगाणं जं खंडियं, जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।[48]

अर्थात् – हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। जो मैने दिवस या रात्रि में कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार (गृहीत व्रत-नियमों में, संयम में दोष) किये हों, कैसे-कैसे? सूत्र विरुद्ध, मार्ग (मोक्षमार्ग) विरुद्ध, आचार मर्यादा (कल्प) विरुद्ध, न करने योग्य (अकरणीय), दुर्ध्यानरूप, दुश्चिन्तनरूप, दुश्चेष्टारूप, अनाचरणीय एवं अनिच्छनीय

(अनिष्ट) (श्रमण के लिए/श्रावक के लिए अयोग्य) दोष, ज्ञान में, दर्शन में तथा चारित्र में, श्रुतज्ञान में, सामायिक, साधना में लगे हों, तथा तीन गुप्तियों में, चार कषायों से, पंच महाव्रतों में, षड्जीव निकायों में, सप्त पिण्डैषणाओं में, अष्ट प्रवचन मात्राओं में, नव विध ब्रह्मचर्य गुप्तियों में, दशविध श्रमण धर्म में जो खण्डता तथा विराधना की हो, वह दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

9. **मिथ्यादिभिः प्रमादै र्वा स्थावर त्रस देहिनाम्।**
योऽपराधस्त्रिधा भूतस्तस्य मिथ्याऽस्तु सर्वथा।।[49]

अर्थात् - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के निमित्त से त्रस स्थावरादि जीव की मन-वचन-काय के द्वारा विराधना होकर जो अपराध हुआ हो, वह सर्वथा मिथ्या हो और यही प्रतिक्रमण है।

10. **एकेन्द्रिययाद्यो यदि देव देहिनः, प्रमादतः संचरता इतस्ततः।**
क्षताविभिन्नामलिनतानिपीडितास्तदस्तुमिथ्या दुरनुष्ठितंतदा।।[50]

अर्थात् - साधक के द्वारा अपनी चर्या के दौरान अनजान में, भ्रमवश, लाचारी से अथवा अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृति-भ्रंश, धर्माचरण में अनादर और योग दुष्प्रणिधान इन अष्टविध प्रमाद में से किसी प्रमादवश किसी भी जीव की विराधना होने पर 'मिथ्या दुष्कत' नामक प्रतिक्रमण किया जाता है।

11. **प्रतिक्रमणं मिथ्या दुष्कृत दानम्।**[51]

अर्थात् - मिथ्या दुष्कृत देना प्रतिक्रमण है।

12. **प्रतिक्रमणं मिथ्या दुष्कृतं तद्योग्यं प्रतिक्रमणं दोषेभ्याःपश्चान्निवर्तनं पुनर्नकरिष्यामीत्येवंरूपेण मिथ्या दुष्कृत**

दानम्-यत्प्रायश्चित्तं मिथ्या दुष्कृत मात्रेणैव शुद्धयति।[52]

अर्थात् – दोषों से पीछे हटना और आगे के लिए फिर से नहीं करने रूप मिथ्या दुष्कृत देना इसका नाम प्रतिक्रमण है- जो प्रायश्चित्त मिथ्या दुष्कृतमात्र से ही शुद्धि कर देता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' अर्थात् – मिच्छा मे दुक्कडं सूत्र का भावार्थ यही है। जैसा कि पं. जयचंद जी छावड़ा ने समयसार ग्रंथ में लिखा है – भूतकाल में किये गये कर्म को मिथ्या कहने का प्रयोजन इस प्रकार है – जैसे किसी ने पहले धन कमाकर घर में रख छोड़ा था और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा। उस समय भूतकाल में जो धन कमाया था वह नहीं कमाने के समान ही है, इसी प्रकार जीव ने पहले जो कर्म बन्ध किया था, फिर जब उसे अहित रूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बांधा था, वह नहीं बांधने के समान मिथ्या ही है।[53]

प्रतिक्रमण पश्चात्ताप के परिणाम (भाव) – आचार्यों ने कहा है कि 'मिच्छा मे दुक्कडं' मात्र काय और वचन तक ही सीमित नहीं रह जाए, वह भाव-पूर्वक हो, इससे ही दुष्कर्म मिथ्या होंगे। यथार्थ में देखा जाए तो प्रतिक्रमण एक साधना-आराधना है, यह प्रतिक्रमण की अनेक परिभाषाओं से स्पष्ट होता है, जिनमें पश्चात्ताप परिणाम/भाव पर जोर दिया गया है। यद्यपि वे पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त-रूप परिणाम ही प्रतिक्रमण है। यथा –

1. **कृतोचित चारस्य यतेस्तदति चार पराङ्मुख्ता योग मात्रेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमतं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम्।**[54]

अर्थात् – जिस साधु ने अपने व्रतों में दोष लगाया है। उसका उन दोषों से विमुख होकर हाँ, मैंने बुरा किया या बुरा विचारा या उसमें अनुमति दी, इस प्रकार के परिणामों को प्रतिक्रमण कहते हैं।

2. **यन्मथा दुष्कृतं पूर्व तन्मिथ्याऽस्तु न तत्पुरः।**
करोमीति मनोवृर्त्ति मिथ्या कारोऽति निर्मलः।।[55]

अर्थात् – जो व्रतादिक में अतिचार – रूप पाप मैंने किया हो, वह मिथ्या हो। ऐसे मिथ्या किये हुए पाप को फिर नहीं करूँगा, ऐसी मनोवृत्ति ही मिथ्याकार (प्रतिक्रमण) है।

3. **प्रतिक्रमणं सप्त प्रतिक्रमणैरात्म भावनं दैवसिकादि प्रतिक्रमणानुष्ठाने।**[56]

अर्थात् – सात प्रकार के प्रतिक्रमणों द्वारा आत्म-भावना करना अर्थात् दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के अनुष्ठान में तत्पर रहना प्रतिक्रमण है।

4. स्वयं के द्वारा किये हुए अशुभ योग से परावर्त होना अर्थात् 'मेरे अपराध मिथ्या होवें' ऐसा कहकर पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है।[57]

5. **संयमयोगे अभ्युत्थि नस्य यत्किंचिद्वित वभत्वत्विम्।**
मिथ्या एतदिति विज्ञाय तद्दुष्कृतं देयम ।।
सुद्धेणं भावेणं अपुण करण संगतेण तिव्वेणं ।
एवं तक्कम्म रवओ एसोसे अत्थणाणंमि ।।
मित्ति मिउमद्दवत्ते छत्ति उ दोसाण छादणे होति।
मेत्ति य मेराएँ ठिओ दुत्ति दुगुछामि अप्पाणं।।
कत्तिकडं मे पावं ऽत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा दुक्कड पयक्खरत्थो समासेणं ।।[58]

अर्थात् – समिति गुप्ति आदि रूप चारित्र के व्यापार में प्रवृत जीव से यदि कोई छोटी–बड़ी गलती हुई हो तो, यह गलत है, ऐसा जानकर उसे दुष्कृत देना चाहिए अर्थात् उससे 'मिथ्या मे दुक्कडं' कहना चाहिए। यह गलती फिर नहीं करूंगा। ऐसे तीव्र और शुभभाव से 'मिच्छा में दुक्कडं देना चाहिए। मिथ्या दुष्कृत देने से कर्मक्षय होता है।

यहाँ तीव्र शब्द का अभिप्राय यह है कि – जितने भाव से भूल की हो उससे अधिक शुभभाव से मिथ्या दुष्कृत देना चाहिए क्योंकि तभी कर्मक्षय होता है। उतने तीव्र भाव मिच्छा मे दुक्कडं पद का अर्थ जानने पर होता है। '**मिच्छामि दुक्कडं**' पद में मि, च्छा, मि, दु, क्क और डं ये छह अक्षर हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं – मि–मृदुता (नम्रता), च्छा – दोषों का छादन करना (फिर नहीं होने देना), मि–मर्यादा में, दु – दुष्कृत करने वाली आत्मा की निन्दा करता हूँ। क्क–मैंने पाप किया है इसका स्वीकार करना, डं–उपशम से पाप को लाँघ जाता हूँ। इनका सामूहिक अर्थ इस प्रकार है–काया और भाव से नम्र बनकर 'भूल फिर से नहीं करूँ' ऐसे भाव से मर्यादित मैं दुष्कृत करने वाली अपनी आत्मा की निन्दा करता हूँ। अर्थात् मैने पाप किया है, यह स्वीकार करता हूँ और उपशम भाव से पूर्व कृत पापों से रहित बन जाता हूँ। यह **मिच्छामि दुक्कडं** पद के अक्षरों का संक्षिप्त अर्थ है।

1. **इरिया वहियं पडिक्कमामि......इच्छामि पडिक्कमिउं इरिया वहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे.....जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तइंदिया चउरिंदिया पंचिदिया अभिहया.....जीवियाओ ववरोविओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।**[59]

अर्थात् – गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में लगे हिंसादि दोषों से निवृत होने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण भी बताया गया है। जिसमें दिन या रात्रि में

गमनागमन, भाषण-सम्भाषण, लेखन-प्रक्षेण, वाचनादि, पंचविध स्वाध्याय, अध्ययन, भिक्षा या आजीविकादि चर्या में उठने-बैठने, सोने-जागने, भोजन करने, मलमूत्रादि विसर्जन में तथा प्रमार्जन प्रतिलेखन आदि किसी भी चर्या या प्रवृत्ति के समय एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव को मन, वचन, काया द्वारा हिंसादि द्वारा क्षति पहुँचाई हो, उनकी विराधना की हो, कराई हो या अनुमोदन किया हो तो हार्दिक पश्चात्ताप (निन्दना) पूर्वक उन जीवों से क्षमा माँगकर, मेरा यह पाप-दोष, दुष्कृत निष्फल (मिथ्या) हो (मिच्छामि दुक्कडं) इस प्रकार वचन से कहा जाता है।

इस प्रकार आत्मालोचन के समय दिवस या रात्रि आदि मैं अपनी चर्या करते समय जो पाप-दोष लग जाते हैं, उनका शोधन करने हेतु आवश्यक सूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण के रूप में इच्छामि ठामि पडिक्कमिडं का पाठ बोला जाता है और अन्त में मिच्छा मि दुक्कडं बोलकर प्रायश्चित्त किया जाता है।

प्रतिक्रमण में पाठ-आराधना – जैनागम में निरुपित प्रतिक्रमण के विवेचन से ज्ञात होता है कि जैसे कारण में कार्य का आरोप (उपचार) होता है, वैसे ही परिणाम के साथ भी परिणाम में जो अक्षरों का समूह अथवा प्रतिक्रमण पाठ निमित्त होता है उस शब्द समूह को अथवा पाठ को भी प्रतिक्रमण कहने का विधान है तथा जिन ग्रंथों में प्रतिक्रमण का वर्णन किया हो उस ग्रंथ को भी प्रतिक्रमण कहा गया है। यह बात विशिष्ट रूप से निम्नलिखित परिभाषाओं में निर्देशित हो रही है –

1. **व्रतेषु संभूताति चारादि दोष निवृत्त्यर्थं ''मिच्छा मे दुक्कडं'' इत्यादि दण्डक सूत्रोच्चारण पूर्वकं यत्क्रिया क्रियते साधुभिः तत्प्रतिक्रमणं नाम।**[60]

अर्थात् - व्रतों में उत्पन्न हुए अतिचार आदि दोषों को दूर करने के लिए 'मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे' इत्यादि दण्डक सूत्रों का उच्चारण करते हुए साधु जो क्रिया करते हैं, उसे 'प्रतिक्रमण' कहते हैं।

2. **येन परिणामेन अक्षर कदम्बकेन वा प्रतिगच्छति पुनर्याति यस्मिन् व्रत शुद्धि पूर्वक स्वरूपे यस्मिन् वा जीवे पूर्वव्रत विशुद्धि परिणमतेऽतिचारं परिभूतं सः परिणामो अक्षर समूह स्तस्य व्रत विशुद्धि परिणतस्य जीवस्य भवेत् प्रतिक्रमणम्।**[61]

अर्थात् - जिस परिणाम के अक्षर समूह से व्रत विशुद्धि को प्राप्त होते हैं अथवा जिन परिणामों से व्रतों के अतिचार का प्रक्षालन करके आत्मा पुनः पूर्ववत् व्रतों को शुद्ध करता है, उन परिणामों को या अक्षर समूह को प्रतिक्रमण कहते हैं। हे प्रभो ! तेरे प्रसाद से मेरे दुष्कृत मिथ्या होवें, इन शब्दों का उच्चारण करना भी प्रतिक्रमण है।

3. **प्रतिक्रमणं व्यतिक्रान्त दोष निर्हरणं व्रताद्युच्चारणं च।**[62]

अर्थात् - पूर्व में किये गए दोषों का निराकरण करना और व्रतादि का उच्चारण करते हुए उन सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए मिच्छा मे दुक्कड़ं बोलना यह प्रतिक्रमण है।

4. **रात्रि-भोजन-त्याग-व्रत सहित पंच महाव्रतोच्चारणं संभावनं दिवस प्रतिक्रमणं पाक्षिक वा।**[63]

अर्थात् - रात्रि-भोजन-त्याग-व्रत सहित पाँच महाव्रतों का उच्चारण करना सम्यक् प्रकार से उनको भाना यह दिवस और पाक्षिक सम्बन्धी प्रतिक्रमण है।

5. **प्रतिक्रमणं पंच महाव्रताद्यतिचार विरति र्व्रत शुद्धि**

निमित्ताक्षर माला वा।[64]

अर्थात् – पाँच महाव्रत आदि में हुए अतिचारों से विरति अथवा व्रत-शुद्धि निमित्त अक्षरों का समूह प्रतिक्रमण है।

6. **सर्वथा कृत दोषाणं यन्निराकरणं त्रिधा। पश्चात्तापाक्षरोच्चारैस्तत्प्रतिक्रमणं शुभम्।।**[65]

अर्थात् – पश्चाताप के द्वारा तथा अक्षरों को उच्चारण कर जो सर्वथा किये हुए दोषों का मन, वचन, काय से निराकरण करना है, उसको शुभ-प्रतिक्रमण कहते हैं।

7. **प्रतिक्रम्यते प्रमाद कृत दैवसिकादिदोषो निराक्रियते इनेनेति प्रतिक्रमणं। दैवसिक रात्रिक पाक्षिक चातुर्म्मासिक सांवत्सरिकेर्य्यापथिकोत्तमार्त्थ भेददिं सप्तविध मक्कुं। भरतादिक्षेत्रमं दुःषमादिकालमं षट् संहनन समन्वित स्थिरास्थिरादि पुरुषभेदंगलुमना श्रयिसि तत्प्रतिपादकमप्प शास्त्रं प्रतिक्रमणम् बुदक्कुं।**[66]

अर्थात् – जिसके द्वारा 'प्रतिक्रम्यते' अर्थात् प्रमाद से किये हुए दैवसिक आदि दोषों का विशोधन किया जाता है, वह प्रतिक्रमण है। वह दैवसिक, रात्रिक पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और पारमार्थिक के भेद से सात प्रकार का है। भरत आदि क्षेत्र, दुषमादि काल, छह संहननों से युक्त स्थिर-अस्थिर आदि पुरुषों के भेदों को लेकर प्रतिक्रमण का कथन करने वाला शास्त्र भी प्रतिक्रमण है।

8. **पांडे राजमल जी** ने प्रतिक्रण पाठ के पठन के साथ पाठन, स्मरण, चिन्तवन, स्तुति, वंदना इत्यादि अनेक क्रियायों के विकल्प को भी

प्रतिक्रमण कहा है।[67]

9. **प्रतिक्रमणं दण्डकोच्चारण लक्षणं द्रव्यरूपम्।**[68]

अर्थात् – दण्डकों का पाठ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण समस्त कर्मों से संन्यास – जैन ग्रन्थों में जैनाचार्यों ने प्रतिक्रमण के लक्षणों में अशुभ कर्मों से निवृत्त होने को जहाँ प्रतिक्रमण कहा है, वहीं अध्यात्म की दृष्टि से प्रतिक्रमण में अशुभ के साथ शुभ से निवृत्त होने में ही प्रतिक्रमण की सफलता बतलायी है। कारण यह है कि जैन मुनि समस्त प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से मुक्त और आत्मा में चिर-काल तक स्थिति चाहते हैं। यही दृष्टिकोण निम्नलिखित परिभाषाओं में स्पष्ट होती है –

1. **अशुभ परिणाम पूर्वक कृत-दोष-परित्यागः।**[69]

अर्थात् – अशुभ परिणाम पूर्वक कृत दोषों का परित्याग करना इसका नाम प्रतिक्रमण है।

2. **स्वकृताद शुभयोगात्प्रति निवृत्तिः प्रतिक्रमणं।**[70]

अर्थात् – अपने द्वारा किये गए अशुभ मन-वचन-काय के व्यापार का प्रतिकार करना प्रतिक्रमण है।

3. **भूत कर्मणां पूर्वोपार्जित शुभाशुभकर्म विपाक भवेभ्यो भावेभ्यः स्वात्मनं विनिवर्त्यात्मना तत्कारणभूत – प्राक्तन कर्म निवर्तनम्।**[71]

अर्थात् – जो आत्मा पूर्व में उपार्जित शुभ-अशुभ कर्म के उदय से हुए भावों से अपने को हटाता है अर्थात् तद्रूप नहीं होता वह उन भावों के

कारणभूत पूर्व कृत कर्मों का प्रतिक्रमण करता है।

4. कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेय वित्थर विसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।
कर्मं यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तर विशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्।।[72]

अर्थात् - अतीत काल में किये हुए जो शुभ-अशुभ ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार के विस्तार-विशेष-रूप कर्म हैं, उनसे जो चेतयिता अपने आत्मा को छुड़ाता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

उक्त परिभाषा में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मो के निराकरण के साथ परिणाम - परिणामों की अभेद विवक्षा से आत्मा को ही प्रतिक्रमण कहा है।

5. यः खलु पुद्गल कर्म विपाक भवेभ्यो भावेभ्य श्र्चेतयितामानं निवर्तयति स तत्कारण भूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति।[73]

अर्थात् - जो आत्मा पुद्गल कर्म के उदय से हुए भावों से अपने आत्मा को छुड़ावे, उस भाव के कारणभूत पूर्व (अतीत) काल में किये कर्म को प्रतिक्रमण रूप करता हुआ आप ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है।

6. कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम्।
आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते।।[74]

अर्थात् - पूर्व में किये हुए तथा फल को प्राप्त हुए सभी कर्मों के आत्मीयत्व का जो परिणाम है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

7. प्रतीपंक्रमणं प्रतिक्रमणाम्, अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽशुभ

योगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।[75]

अर्थात् – शुभयोगों से अशुभयोगों में गये हुए अपने आप को पुनः शुभयोगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

8. वचन रचना को छोड़कर रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसके प्रतिक्रमण होता है। जो विराधना को विशेषतः छोड़कर आराधना में वर्तता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है। इसी प्रकार अनाचार को छोड़कर आचार को, उन्मार्ग का त्याग करके जिनमार्ग को, शल्यभाव को छोड़कर निशल्यभाव को, अगुप्ति भाव को छोड़कर त्रिगुप्तिभाव को, आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म अथवा शुक्ल ध्यान को, मिथ्या दर्शन आदि को छोड़कर सम्यग्दर्शन को भाता है, वह जीव प्रतिक्रमणमय है।[76]

प्रतिक्रमण से सम्बन्धित सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष है कि – जो जैन व्रती जन मन, वचन, काय से, कृत, कारित, अनुमोदना से, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के विषय में भूतकालीन समस्त अतिचारों को मिच्छा मे दुक्कड़ं के भाव पूर्ण पाठ द्वारा दूर कर देते हैं, वह प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के अंग –

पडिकमओ पडिकमणं पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हपि ।।[77]

जैनागम में प्रतिक्रमण के तीन अंग बतलाये गये हैं। प्रतिक्रामक आत्मा यः प्रतिक्रमण मेवतत्। यत्प्रतिक्रमित व्यंतत् त्रयं सर्वेवुव्रेधुन।।[78] अर्थात् – प्रतिक्रमण के करने में आत्मा प्रतिक्रामक होता

है, जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। तीन अंगों का स्वरूप इस प्रकार है –

1. **प्रतिक्रामक** – जो प्रतिक्रमण करता है अर्थात् किए हुए दोषों से विरक्त होता है, उनसे अपने को हटाता है वह प्रतिक्रामक है। अथवा प्रमाद आदि से लगे हुए दोषों से निवृत्त होने वाला अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक अतिचारों से निवृत्त होता है, वह साधु 'प्रतिक्रामक' कहलाता है। अर्थात् पापों से भयभीत दोषों के निराकरण का इच्छुक प्रतिक्रमण करने वाला मुनि प्रतिक्रामक कहलाता है।

2. **प्रतिक्रमण** – पंच महाव्रतादि में लगे हुए अतिचारों से निवृत्त होकर महाव्रतों की निर्मलता में पुनः प्रविष्ट होने वाले जीव के उस परिणाम का नाम 'प्रतिक्रमण' है। अथवा जिस परिणाम से जीव चारित्र में लगे अतिचारों को हटाकर चारित्र शुद्धि में प्रवृत्त हो, जीव का वह परिणाम 'प्रतिक्रमण' है। या पश्चाताप द्वारा अक्षरों का उच्चारण कर दोषों की निवृत्ति के लिए जो किया जाता है वह प्रतिक्रमण है।

3. **प्रतिक्रमितव्य** – त्याग करने योग्य को प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। भाव, ग्रह आदि क्षेत्र, दिवस, मुहूर्त आदि दोष जनक काल तथा सचित्त, अचित्त एवं मिश्र रूप द्रव्य जो पापास्रव के कारण हों, वे सब 'प्रतिक्रमितव्य' हैं। सचित्ताचित्तादि सम्पूर्ण द्रव्य दोषों का जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रतिक्रमितव्य है।

प्रतिक्रमण रूप क्रिया के कारक – प्रतिक्रमण रूप क्रिया के कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारक हैं –

1. **कर्त्ता** – जो प्रतिक्रमण करता है, वह कर्त्ता होता है। पाँच महाव्रत आदि

के श्रवण और धारण में लगने वाले दोषों को दूर करने में तत्पर साधु प्रतिक्रमण का कर्त्ता होता है।

2. कर्म – वह जिन दोषों का प्रतिक्रमण करता है, वे दोष उसके कर्म होते हैं। मिथ्यात्व आदि दोष रूप पाप अथवा उसमें निमित्त द्रव्यादि, जो कि छोड़ने योग्य होते हैं वे प्रतिक्रमण रूप क्रिया के कर्म हैं।

3. करण – जिन परिणामों से अथवा पाठ आदि से दोषों की शुद्धि की जाती है, वे परिणामादि उसके करण होते हैं। 'मेरे समस्त पाप मिथ्या होवें' इस प्रकार के शब्दों से प्रकट होने वाले जिस परिणाम से अथवा प्रतिक्रमण पाठ से जिन अक्षर समूह से पापों का छेद होता है वे करण हैं।

4. अधिकरण – प्रतिक्रमण का आधार व्रतादि या व्रतधारी जीव अधिकरण होता है। जिस व्रत शुद्धि पूर्वक रूप में अथवा व्रत शुद्धि रूप परिणत जीव में दोषों का छेद होता है वे प्रतिक्रमण के अधिकरण हैं।[79]

इस तरह प्रतिक्रमण रूप क्रिया के ये कर्त्ता, कर्म, करण, और अधिकरण होते हैं, इनके बिना क्रिया नहीं हो सकती है।

प्रतिक्रमण के विभिन्न भेद – जैन आगम ग्रन्थों में प्रतिक्रमण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन निरुपित किया गया है। जिनका विवेचन निम्नलिखित प्रकार से है –

साधकों के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं – श्रमण प्रतिक्रमण और श्रावक प्रतिक्रमण

मूलतः प्रतिक्रमण – मूलतः प्रतिक्रमण के दो भेद हैं। भाव प्रतिक्रमण और द्रव्य प्रतिक्रमण।

1. भाव प्रतिक्रमण – जिन परिणामों से दोषों का शोधन होता है वे

परिणाम भाव प्रतिक्रमण हैं। आर्त्त-रौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामाः **पुण्यास्रव भूताश्च शुभपरिणामाः। इह भाव शब्देन गृहिता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भाव प्रतिक्रमणं इति।।**[80] अर्थात् आर्त्त, रौद्र आदि अशुभ परिणाम तथा पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ परिणाम भाव कहलाते हैं। इन शुभाशुभ भावों से निवृत होकर शुद्ध परिणामों में स्थित होना भाव प्रतिक्रमण है। **भाव पडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइ गुण जुत्तस्स पडिक्कमणं ति।**[81] यह वह प्रतिक्रमण है जिसमें साधक के अन्तर्मानस में अपने कृत पापों के प्रति गहरी ग्लानी होती है। वह चिन्तन करता है, मैंने इस प्रकार की स्खलनाएँ क्यों कीं ?वह दृढ़ निश्चय के साथ उपयोग पूर्वक उन पापों की आलोचना करता है साथ ही भविष्य में पुनः वे दोष न लगें, इसके लिए दृढ़ संकल्प करता है। इस रूप में भाव प्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है। मुमुक्षु के लिए भाव प्रतिक्रमण उपादेय है। कर्मों की निर्जरा रूप वास्तविक फल भाव प्रतिक्रमण से ही होता है। मूलाचार ग्रन्थ में भाव प्रतिक्रमण को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि

मिच्छत्त पडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ।।
आलोचणणिंदणगरहणहिं अब्भुट्ठिओ अ करणाए ।
तं भाव पडिक्कमणं सेसं पुण दव्वदो भणिअं ।।
भावेण संपजुत्तो जदत्थ जोगो य जंपदे सुत्तं।
सा कम्मणिज्जराए विउलाए वहदे साधू।।[82]

अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अप्रशस्त योग इन सबकी आलोचना अर्थात् गुरु के सम्मुख अपने द्वारा किये अपराधों का निवेदन करना, निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करके पुनः दोष में प्रवृत्त न होने वाले के भाव प्रतिक्रमण होता है। भावयुक्त श्रमण ही जिन अतिचारों के

नाशार्थ प्रतिक्रमण सूत्र बोलता और सुनता है, वह साधु विपुल निर्जरा करता हुआ सभी दोषों का नाश करता है।

चैतन्य यात्री आत्म-भावों से हटकर पर-भावों में रमण करता-करता पुनः सम्भलकर आत्म-भावों में रमण करने लगता है, वही आत्मा के लिए प्रतिक्रमण है अथवा जो-जो बातें आत्म-गुणों या आत्म-भावों के प्रतिकूल हैं, उनसे निवृत्त होकर पुनः अपने आत्म-गुणों या आत्म-भावों में प्रवृत्त हो जाना भी भाव प्रतिक्रमण है। इसके अतिरिक्त विराधना को छोड़कर आराधना में, अनाचार को छोड़कर आचार में, उन्मार्ग का त्याग करके वीतराग प्ररूपित सन्मार्ग में, मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व में, त्रिविध शल्यभाव को छोड़कर निःशल्यभाव में, आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्मध्यान-शुक्लध्यान में तथा अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिविध-गुप्तिभाव में प्रवृत्त होना भी भाव प्रतिक्रमण है। इससे तीव्र गति से असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है।

पर द्रव्यों के निमित्त से जो रागादिक भाव हुए थे उनको वर्तमान में बुरा समझकर उन प्रत्यय के संस्कारों को एवं उन प्रत्यय के ममत्व भावों के छोड़ने को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं।[83] **मिच्छत्ताइ ण गच्छइ ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई।। जं मण-वय काएहि त भणियं भाव पडिक्कमणं।।**[84] अर्थात् भाव प्रतिक्रमण में ही साधक न स्वयं मन, वचन, काया से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में गमन करता है, न दूसरों को गमन करने के लिए उत्प्रेरित करता है और जो साधक दुर्भावों में गमन करते हों उनका अनुमोदन भी नहीं करता है।

2. द्रव्य प्रतिक्रमण – जिन अक्षरों का उच्चारण अर्थात् मिच्छा मे दुक्कडं इत्यादि दण्डकों का उच्चारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण है। आलोचना आदि के बिना जो प्रतिक्रमण है वह द्रव्य प्रतिक्रमण है। उपर्युक्त विधि से जो

अपने दोष परिहार नहीं करता और सूत्र मात्र से सुन लेता है, निन्दा-गर्हा से दूर रहता है तो उसका द्रव्य प्रतिक्रमण होता है। क्योंकि विशुद्ध परिणाम रहित होकर द्रव्यीभूत दोष युक्त मन से जिन दोषों के नाशार्थ प्रतिक्रमण किया जाता है, वे दोष नष्ट नहीं होते। अतः द्रव्य प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रतिक्रमण यंत्र की भांति चलता है। उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति तीव्र ग्लानि नहीं होती। इसलिए द्रव्य प्रतिक्रमण करने वाला साधक पुनः-पुनः उन्हीं स्खलनाओं को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी आत्मशुद्धि अपेक्षित है, वैसी उस प्रतिक्रमण से नहीं हो पाती। यद्यपि अतीत काल में जिन पर द्रव्यों को ग्रहण किया था, उनको वर्तमान में बुरा समझकर उनके संस्कारों को न रहने देना एवं उनके प्रति होने वाले ममत्व भाव के त्याग ने को द्रव्य प्रतिक्रमण कहते हैं। द्रव्य प्रतिक्रमण के सभी आगम और नोआगम आदि भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं। मूलाचार की आचार वृत्ति में कहा है कि जो शुद्ध परिणामों से रहित है, दोषों से अपने मन को दूर नहीं करने वाला है, दोष को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण को सुनता है या करता है तो वह जिस दोष हेतु प्रतिक्रमण करता है, उस दोष को छोड़ नहीं पाता है। अर्थात् यदि साधु का मन प्रतिक्रमण करते समय दोषों की आलोचना, निन्दा आदि रूप नहीं है तो वह प्रतिक्रमण दण्डकों को सुन लेने या पढ़ लेने मात्र से उन दोषों से छूट नहीं सकता है। अतः जिस लिए प्रतिक्रमण किया जाता है, वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है। ऐसा समझकर भाव रूप प्रतिक्रमण करना चाहिए। यहाँ आचार्य ने भाव प्रतिक्रमण की विशिष्टता का वर्णन किया है। वस्तु स्थिति से विचार करते हैं तो भाव प्रतिक्रमण के बिना द्रव्य प्रतिक्रमण निष्फल है और द्रव्य प्रतिक्रमण के बिना भाव प्रतिक्रमण ठहर नहीं सकता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। द्रव्य प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण का साधन है और भाव प्रतिक्रमण साध्य है। भाव प्रतिक्रमण परमार्थ भूत दोषों

का परिहार रूप है और द्रव्य प्रतिक्रमण अपरमार्थ रूप कहा गया है। यह दोनों में अन्तर है।[85]

द्विविध प्रतिक्रमण – सामान्यतया प्रतिक्रमण के दो भेद हैं – अज्ञानी जनों के आश्रित और ज्ञानी जनों के आश्रित।

1. अज्ञानी जनों के आश्रित – अज्ञानी जनों के आश्रित जो प्रतिक्रमण है, वह विषय–कषाय की परिणति रूप है अर्थात् हेय–उपादेय के विवेक से रहित सर्वथा अत्याग रूप निरर्गल प्रवृत्ति है।

2. ज्ञानी जनों के आश्रित – ज्ञानी जनों के आश्रित जो प्रतिक्रमण है वह शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व आचरण लक्षण वाले अभेद रत्नत्रय या त्रिगुप्ति रूप है। यह प्रतिक्रमण के उपरान्त प्राप्त हुई आत्मस्थ अवस्था है।[86]

प्रतिक्रमण के अन्य दो भेद भी हैं – निश्चय प्रतिक्रमण और वृहत्प्रतिक्रमण ।

1. निश्चय प्रतिक्रमण – मोत्तूण वयणरयणं रागादि भाव वरणाणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि जस्स दु होदित्ति पडिकमणं।।[87]

अर्थात् वचन रचना को छोड़कर रागादिक भावों का निवारण करके जो आत्मा का ध्याता है उसे निश्चय प्रतिक्रमण कहते हैं।

2. वृहत्प्रतिक्रमण – निजशुद्धात्म परिणति लक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन वृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते।[88] निज शुद्धात्म परिणति है लक्षण जिसका, ऐसी जो क्रिया है वह निश्चय नय से वृहत्प्रतिक्रमण है।

त्रिविध प्रतिक्रमण – आचार्यो ने प्रतिक्रमण के तीन भेद बतलाये

हैं – मनः प्रतिक्रमण, वचन प्रतिक्रमण और काय प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमणं त्रिविधम् मनः प्रतिक्रणम् वचः प्रतिक्रमणम्, काय प्रतिक्रमणम् चेति। तत्र हा दुष्कृतमिति मनसि विचारणं मनः प्रतिक्रमणम्। सुत्रोच्चारणं वचः प्रतिक्रमणम्। कायेन तदनाचरणं काय प्रतिक्रमणम्।[89]

1. मनः प्रतिक्रमण – 'हा दुष्कृत मिति वा मनः प्रतिक्रमणं' यह तो मेरा दुष्कर्म है, ऐसा पश्चाताप करते हुए मन में विचार करना मनः प्रतिक्रमण है अर्थात् किये हुए अतिचारों का मन से त्याग करना मनः प्रतिक्रमण है।

2. वचन (वाक्य) प्रतिक्रमण – 'सूत्रोच्चारणं वाक्य प्रतिक्रमणं' प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वचन/वचः/वाक्य प्रतिक्रमण है।

3. काय (कायकृत) प्रतिक्रमण – 'कायेन तद्नाचरणं काय प्रतिक्रमणं' शरीर के द्वारा दुष्कृत्यों/ दुष्कर्मो का आचरण न करना काय/कायकृत प्रतिक्रमण है।

आराधना काल (मरण समाधि) के प्रतिक्रमण – आराधना काल (मरण समाधि) के तीन प्रतिक्रमण कहे गये हैं – सर्वातिचार प्रतिक्रमण, त्रिविधाहार त्याग प्रतिक्रमण और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

पढमं सव्वविचार विदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवाय मुत्त मट्ठं च।।[90]

1. सर्वातिचार प्रतिक्रमण – दीक्षा ग्रहण से लेकर सम्पूर्ण तपश्चरण के काल तक जो दोष लगे हैं, उनकी शुद्धि करना सर्वातिचार प्रतिक्रमण है।

2. त्रिविधाहार त्याग प्रतिक्रमण – जल के बिना तीन प्रकार का आहार का त्याग करने में जो अतिचार लगे थे, उनका शोधन करना त्रिविधाहार

त्याग प्रतिक्रमण है।

3. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण – जीवन पर्यन्त जो जल पीने का त्याग किया था, उसके दोषों की शुद्धि करना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

त्रिकाल विषयक प्रतिक्रमण – त्रिकाल विषयक प्रतिक्रमण तीन प्रकार का है – अतीत प्रतिक्रमण, वर्तमान प्रतिक्रमण और भविष्यत् प्रतिक्रमण।

1. अतीत प्रतिक्रमण – साधक भूतकाल (अतीत काल) में लगे हुए दोषों का आलोचना रूप प्रतिक्रमण करता है। पश्चाताप (आत्म-निन्दना) द्वारा अतीत काल के अशुभ योगों की निवृत्ति अतीत प्रतिक्रमण है।

2. वर्तमान प्रतिक्रमण – साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त रहता है अर्थात् वर्तमान काल में लगने वाले दोषों का निरोध रूप संवर करता है, उनसे बचता है। इस प्रकार अशुभ योगों से निवृत्ति, शुभ योगों में प्रवृत्ति वर्तमान प्रतिक्रमण है।

3. भविष्यत् प्रतिक्रमण – **अइयं पडिक्कमेइ , पडुपन्नं संवरेइ , अणागयं पच्चक्खाइ** । प्रत्याख्यान द्वारा भविष्यत् कालिक अशुभ योगों से निवृत्ति, शुभ योग में प्रवृत्ति करूंगा यह संकल्प भविष्यत् प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण शब्दो हि अन्नाशुभयोग निवृति मात्रार्थः सामान्यतः परिगृहयते , तथा च सत्यतीत विषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्न विषयमपि संवर द्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरे अनागत विषयमपि प्रत्याख्यान द्वारेण

अशुभयोग निवृत्तिरेवेति न दोष इति।[91]

इस प्रकार प्रतिक्रमण क्रिया का उद्देश्य पूर्वकृत दोषों को दूर करना, वर्तमान में वैसे दोषों को जीवन में प्रविष्ट होने से रोकना और भविष्य में फिर वैसे ही दोषों को न करने के लिए सावधान हो जाता है, ताकि कर्मों के आस्रव और बंध से मुक्त होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो सके।

चतुर्विध प्रतिक्रमण – आराधना शास्त्र के आधार पर प्रतिक्रमण के चार भेदों का उल्लेख जैनागम ग्रन्थों में उपलब्ध होता है – योग प्रतिक्रमण, इन्द्रिय प्रतिक्रमण, शरीर प्रतिक्रमण और कषाय प्रतिक्रमण।

योगेन्द्रिय शरीरं कषायाणां च । तत्र त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो योग प्रतिक्रमणं , पंचेन्द्रियाणां च निग्रह इन्द्रिय प्रतिक्रमणं , पंच विधस्य च शरीरस्य च त्यागः कृशता वा शरीर प्रतिक्रमणं , षोडशविध कषायस्य नव विधस्य च नोकषायस्य निग्रहः कृशता कषाय प्रतिक्रमणं।[92]

1. **योग प्रतिक्रमण** – तीन प्रकार के योगों का निग्रह करना योग प्रतिक्रमण है।

2. **इन्द्रिय प्रतिक्रमण** – पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना इन्द्रिय प्रतिक्रमण है।

3. **शरीर प्रतिक्रमण** – पाँच प्रकार के शरीर का त्याग करना अथवा उन्हें कृश करना शरीर प्रतिक्रमण है।

4. **कषाय प्रतिक्रमण** – सोलह भेद रूप कषायों और नव नो कषायों का निग्रह करना उन्हें कृश करना यह कषाय प्रतिक्रमण है।

मिच्छत पडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पस त्थेसु ।।

मूलाचार ग्रन्थ में भाव प्रतिक्रमण के सन्दर्भ में इसके चार भेद वर्णित हैं – मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण।

1. **मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण** – त्याग करना अर्थात् उस विषयक दोष को दूर करना मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है।

2. **असंयम का प्रतिक्रमण** – असंयम विषयक अतीचार का परिहार करना असंयम का प्रतिक्रमण है।

3. **कषायों का प्रतिक्रमण** – कषाय विषयक अतीचारों को शुद्ध करना कषायों का प्रतिक्रमण है।

4. **अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण** – मन-वचन-काय से हुए अतीचारों से निवृत्त होना अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण है।

हिंसादि के भेद से सावद्य योग के भेद करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमण है।[93]

काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के भेद – काल की अपेक्षा से श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ आवश्यक चूर्णि में प्रतिक्रमण के पाँच भेद बतलाये हैं – दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण।

1. **दैवसिक प्रतिक्रमण** – दिन के अन्त में अर्थात् प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिवस में आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

2. **रात्रिक प्रतिक्रमण** – प्रतिदिन रात्रि के अन्त में प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण रात्रि के आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

3. **पाक्षिक प्रतिक्रमण** – पक्षान्त (पन्द्रह दिन) में अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

4. **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** – चार माह के पश्चात् कार्तिक पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीने के आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

5. **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण** – प्रत्येक वर्ष आषाढ़ी पूर्णिमा के उनन्चास या पचासवें दिन सांवत्सरी महापर्व के दिन वर्ष में लगे हुए दोषों का चिन्तन क्रर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

अहर्निशा पक्ष चतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः।

प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसफ।।

दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रन्थों में काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के सात भेद पाये जाते हैं –

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं ।
पक्खिखय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ।।[94]

दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

1. **दैवसिक प्रतिक्रमण** - सम्पूर्ण दिवस में लगे हुए अतीचारों से प्रत्येक संध्या को निवृत्ति होना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

2. **रात्रिक प्रतिक्रमण** - सम्पूर्ण रात्रि में हुए अतिचारों/दोषों की प्रतिदिन प्रातः आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

3. **ईर्यापथिक प्रतिक्रमण** - आहार, गुरुवंदन, शौच आदि गमन करते समय षट्कांय के जीवों के प्रति विराधना रूप दोषों के निराकरण करने को ईर्यापथिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

4. **पाक्षिक प्रतिक्रमण** - सम्पूर्ण पक्ष (पन्द्रह दिन) में उत्पन्न दोषों का जिसमें निराकरण किया जाये अर्थात् दोषों की निवृत्ति के लिए अमावस्या एवं पूर्णिमा को उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

5. **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** - चातुर्मास (चार महिना) में हुए अतिचारों की निवृत्ति हेतु कार्तिक, फाल्गुन एवं आषाढ़ माह की पूर्णिमा को विचार पूर्वक आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

6. **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण** - वर्ष भर के अतिचारों की निवृत्ति हेतु प्रत्येक वर्ष आषाढ़ माह के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन चिन्तन पूर्वक आलोचना करना सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण है।

7. **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण** - सल्लेखना समाधि के धारण समय जो दीक्षा से अभी तक लगे हुए अतिचारों से निवृत्ति होना है। यावज्जीवन चार प्रकार के आहारों से निवृत्त होना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसके अन्तर्गत जीवन पर्यन्त सभी प्रकार के अतिचारों का भी त्याग हो जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ आवश्यक सूत्र में पंच प्रतिक्रमण का उल्लेख किया गया है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय

और अशुभ योग रूप तथा स्थानांग सूत्र के अनुसार - आस्रवद्वार प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व प्रतिक्रमण, कषाय प्रतिक्रमण, योग प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण भी बतलाए हैं।[95]

निक्षेप की अपेक्षा प्रतिक्रमण -

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो पडिक्कमगणे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ।

निक्षेप की अपेक्षा प्रतिक्रमण के छह भेद हैं - नाम प्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण, क्षेत्र प्रतिक्रमण, काल प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण।

1. **नाम प्रतिक्रमण** - अयोग्य नामों का उच्चारण नहीं करना अर्थात् अयोग्य नामोच्चारण से निवृत्त होना अथवा प्रतिक्रमण दण्डक के शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है।

2. **स्थापना प्रतिक्रमण** - आप्ताभास की प्रतिमा के आगे खड़े होकर हाथ जोड़ना, मस्तक नवाना, द्रव्य से पूजा करना इस प्रकार के स्थापना का त्याग करना तथा मनोज्ञ व अमनोज्ञ मूर्ति से उत्पन्न हुए दोषों को मन, वचन, काय से त्याग करना अर्थात् सराग स्थापनाओं से अपने परिणामों को हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। अथवा त्रस व स्थावर जीवों की स्थापनाओं को नष्ट करने तथा उनके मर्दन, ताड़न आदि का त्याग करना स्थापना प्रतिक्रमण है।

3. **द्रव्य प्रतिक्रमण** - सावद्य द्रव्य सेवन के परिणामों को हटाना अर्थात् उद्‌गम आदि दोष युक्त वसतिका का उपकरण व आहार का त्याग करना, अयोग्य अभिलाषा उन्मत्तता तथा संक्लेश परिणाम को बढ़ाने वाले आहारादि का त्याग करना यह सब द्रव्य प्रतिक्रमण है।

4. **क्षेत्र प्रतिक्रमण** - क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना अथवा पानी, कीचड़, त्रस जीव या स्थावर जीवों से व्याप्त क्षेत्र तथा जहाँ रत्नत्रय की हानि हो ऐसे प्रदेश का त्याग करना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

5. **काल प्रतिक्रमण** - काल के आश्रय या निमित्त से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना अथवा रात्रि में, तीनों संध्याकालों में, स्वाध्याय काल में, आवश्यक क्रिया के काल में आने- जाने का त्याग करना काल प्रतिक्रमण है।

6. **भाव प्रतिक्रमण** - राग-द्वेष, क्रोधादि से उत्पन्न अतिचारों से निवृत्त होना भाव प्रतिक्रमण है अथवा आर्त्त-रौद्र आदि अशुभ भावों व पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ परिणामों का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है।[96]

वृहत्प्रतिक्रमण की अपेक्षा प्रतिक्रमण - जिन दोषों की विशुद्धि के लिए भक्ति पाठ, कायोत्सर्ग अधिक किये जाते हैं, उन्हें वृहत्प्रतिक्रमण या गुरु प्रतिक्रमण कहते हैं।

व्रतादाने चपक्षान्ते कार्तिके फाल्गुन शुचौ ।
स्यात् प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे संन्यासनेमृते ।।[97]

वृहत्प्रतिक्रमण की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के सात भेद हैं - व्रतारोपण प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, कार्तिकान्त चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, फाल्गुनान्त चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, आषाढ़ान्त वार्षिक प्रतिक्रमण, सर्वातिचार प्रतिक्रमण और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

1. **व्रतारोपण प्रतिक्रमण** - व्रत ग्रहण करने पर जो प्रतिक्रमण होता

है अथवा व्रत ग्रहण करने में लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिए किये जाने वाले प्रतिक्रमण को व्रतारोपण प्रतिक्रमण कहते हैं।

2. **पाक्षिक प्रतिक्रमण** – पक्ष के अन्त में जो प्रतिक्रमण होता है उसे पाक्षिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

3. **कार्तिकान्त चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** – चार माह में लगे दोषों के निवारण हेतु कार्तिक मास के अन्त में पूर्णिमा को जो प्रतिक्रमण होता है उसे कार्तिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

4. **फाल्गुनान्त चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** – फाल्गुन मास के अन्त में पूर्णिमा को चार माह में लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिए किये जाने वाले प्रतिक्रमण को फाल्गुनान्त चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

5. **आषाढ़ान्त वार्षिक प्रतिक्रमण** – आषाढ़ मास के अन्त में पूर्णिमा को वर्ष भर में लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण आषाढ़ान्त वार्षिक प्रतिक्रमण है।

6. **सर्वातिचार प्रतिक्रमण** – दीक्षा लेने के समय से लेकर संन्यास ग्रहण करने के समय तक जो दोष लगे हैं उन सबकी विशुद्धि के लिए किये जाने वाले प्रतिक्रमण को सर्वातिचार प्रतिक्रमण कहते हैं।

7. **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण** – सल्लेखना समाधि धारण के समय जो दीक्षा से अभी तक लगे हुए अतिचारों से निवृत्ति होना है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। यहाँ स्पष्ट कर दें कि जिसमें तीन प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में होता है। व्रतारोपण प्रतिक्रमण और सर्वातिचार प्रतिक्रमण दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु हैं क्योंकि प्रतिक्रमण के लिए जो भक्ति आदि करनी होती है, वह इनमें अधिक करनी होती हैं। अतः इन दोनों का अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में होता है।

अतिचार सम्बन्धी प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव सर्वातिचार सम्बन्धी प्रतिक्रमण होता है तथा पाँच वर्ष के अन्त में किये जाने वाले युगान्त प्रतिक्रमण (युग प्रतिक्रमण) का अन्तर्भाव वार्षिक प्रतिक्रमण में होता है।

लघु प्रतिक्रमण की अपेक्षा प्रतिक्रमण – जिन दोषों की विशुद्धि के लिए भक्ति पाठ, कायोत्सर्ग कम किये जाते हैं, उन्हें लघु प्रतिक्रमण कहते हैं।

लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि ।
स्यात् प्रतिक्रमणा लध्वी तथा दोषे तु सप्तमी ।।

लघु प्रतिक्रमण के सात भेद हैं – निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण, लोंच प्रतिक्रमण, गोचर (आहार) प्रतिक्रमण, रात्रि प्रतिक्रमण, दैवसिक प्रतिक्रमण, मार्ग प्रतिक्रमण और दोष प्रतिक्रमण।[98]

1. **निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण** – निषिद्धिका में गमन करने पर जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण है।

2. **लोंच प्रतिक्रमण** – दीक्षा ग्रहण करने के बाद दो, तीन या चार मास के अन्तर्गत जो लोंच (केश हाथ से उखाड़े जाते हैं) कर प्रतिक्रमण किया जाता है, वह लोंच प्रतिक्रमण है।

3. **गोचर (आहार) प्रतिक्रमण**– गोचर(आहार)कर जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह गोचर प्रतिक्रमण है।

4. **रात्रि प्रतिक्रमण**– रात्रि में उत्पन्न हुए दोषों का जिसमें निराकरण किया जाये, वह रात्रि प्रतिक्रमण कहलाता है।

5. **दैवसिक प्रतिक्रमण** – दिन में उत्पन्न हुए दोषों का जिसमें निराकरण किया जाय उसे दैवसिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

6. **मार्ग प्रतिक्रमण** – गमन करते हुए जीवों के विराधना रूप दोषों के निराकरण करने को मार्ग प्रतिक्रमण कहते हैं।

7. **दोष प्रतिक्रमण** – दुःस्वप्न आदि अतिचार को दोष कहते हैं। इनके निवारण हेतु किया जाने वाला प्रतिक्रमण दोष प्रतिक्रमण कहलाता है।

उक्त सातों प्रतिक्रमणों में निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव ईर्यापथिक प्रतिक्रमण में, दोष प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव रात्रि प्रतिक्रमण में तथा लोंच व गोचर (आहार) प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव दैवसिक प्रतिक्रमण में होता है।

अष्ठ भेद रुप प्रतिक्रमण – श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के आठ भेदों का उल्लेख किया गया है –

पडिकमणं दैवसिअ राइअं च इत्तिरिअभावकहियं च ।
पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्ठे अ ।।

अर्थात् दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, इत्वर प्रतिक्रमण, यावत्कथिक प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, वार्षिक प्रतिक्रमण और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।[99] टीका में प्रश्न किया गया है कि जब प्रतिदिन प्रातः, सांय नियमित रूप से किये जाने वाले प्रतिक्रमण से ही दोषों की विशुद्धि हो जाती है तब पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में घर का दृष्टांत देते हुए कहा है कि जैसे घर की सफाई प्रतिदिन की जाती है, फिर भी पक्ष–पर्वादि में विशेष रूप से सफाई की जाती है, वैसे ही प्रतिदिन नियमित प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना की जाती है, पर पर्व के दिनों में विशेष रूप से जागरुक रहकर जीवन का निरीक्षण और परीक्षण तथा दोषों का प्रक्षालन आवश्यक है।

दिगम्बर जैन परम्परा के शब्दकोष में गणिनी आर्यिका श्री विशुद्धमती माता जी ने प्रतिक्रमण के अष्ट भेद निरुपित किये हैं, जो इस प्रकार हैं –ईर्यापथ प्रतिक्रमण, दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण उत्तमार्थिक प्रतिक्रमण और गुरु प्रतिक्रमण।[100]

इस प्रकार प्रतिक्रमण के विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परस्थान परधर्म) में गये हुये साधक का पुनः स्वस्थानं पर लौट आना यह प्रतिक्रमण है। अप्रमत्त चेतना का स्वचेतना केन्द्र में स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर वस्तु पर केन्द्रित होना परस्थान है। इस प्रकार बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है। क्षयोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षयोपशमिक भाव में लौट आता है तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है। अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्ष फल दायक शुभ आचरण में निःशल्य भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है। संसार का मूल कारण राग–द्वेष प्रभृति औदयिक भाव है और मोक्ष का मूल कारण क्षयोपशमिक भाव है जिसमें समता, क्षमा, नम्रता प्रभृति भाव की प्रमुखता होती है। साधक क्षयोपशमिक भाव से औदयिक भाव में जाता है, जो निज भाव नहीं है, तदुपरांत वह पुनः क्षयोपशमिक भाव में आता है, इस प्रतिकूल गमन को प्रतिक्रमण कहा गया है।

युग प्रतिक्रमण – जैनागम में युग प्रतिक्रमण का उल्लेख प्राप्त होता है। **पंचवर सादो युगोः अथवा पंच वच्छरेहि जुगं।**[101] अर्थात् – पाँच वर्ष प्रमाण काल को युग कहते हैं या काल प्रमाण की दृष्टि से पाँच वर्षो का एक युग होता है। यह अर्थ लिया है तथा पाँच वर्ष में सामूहिक रूप से

साधुओं द्वारा किया जाने वाला प्रतिक्रमण युग प्रतिक्रमण कहा गया है।[102] धर्मामृत अनगार में निर्दिष्ट है कि – **पंच संवत्सरान्ते विधेया यौगान्ती प्रतिक्रमणा संवत्सर प्रतिक्रमाया मर्न्तभवति।**[103] अर्थात् – पाँच वर्ष के अंत में किया गया युग–प्रतिक्रमण, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत हो जाता है। वही नियमसार प्राभृत में भी टीकाकार ने उल्लेख किया है कि – **पंचवर्षान्ते कर्तव्या युग प्रतिक्रमण नाम धेयापि सांवत्सर प्रतिक्रमणायां वर्तते।**[104] अर्थात् – पाँच वर्ष में करने योग्य जो युग–प्रतिक्रमण है, वह भी वार्षिक प्रतिक्रमण में गर्भित कर लिया जाता है।

युग–प्रतिक्रमण की प्रणाली प्राच्य आचार्यो से संबद्ध होने से श्रमण संघों में अनुकरणीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से युग प्रतिक्रमण की परम्परा अंगाश के ज्ञाता आचार्य अर्हद्बलि से संबद्ध परिलक्षित होती है। पूर्व काल में आचार्य अपने विविध विशाल संघों को एक स्थान पर एकत्रित होने के लिए आमंत्रित करते थे। पाँच वर्ष में साधु कहीं पर हों, समस्त संघ एकत्रित होकर एक साथ वात्सल्य भाव के साथ यह महान अनुष्ठान करते थे और बाद में फिर पाँच वर्ष के लिए भावी योजना बनाकर विहार कर चले जाते थे। इसका उल्लेख इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, षट्खण्डागम ग्रन्थ की भूमिका, षट्खण्डागम परिशीलन, तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, दिगम्बरत्व की खोज आदि ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य अर्हद्बलि के विषय में सुप्रसिद्ध इन्द्रनन्दि श्रुतावतार में लिखा है कि –

सर्वांग पूर्व देशैक देश वित्पूर्व देश मध्य गते ।
श्री पुण्ड्रवर्धन पुरे मुनिराजनि ततोऽर्हद बल्याख्या:।।
स च तत्प्रसारणा धारणा विशुद्धाति सत्क्रियोद्युक्तः।

अष्टांग निमित्तज्ञः संघानुग्रह निग्रह समर्थः ।।[105]

अर्थात् – सम्पूर्ण अंगपूर्वों के एक देश ज्ञानधारियों तथा पूर्वों के एक देश ज्ञानधारियों के मध्य श्री पुण्ड्रवर्धन नगर में अर्हद्बलि नामक मुनिराज हुए और वह उस श्रुत ज्ञान के प्रसारण धारण विशुद्धिकरण आदि सत्क्रियाओं में संलग्न अष्टांग निमित्तों के ज्ञाता तथा मुनि संघ के अनुग्रह–निग्रह (उपदेश–प्रायश्चित्त) करने में पूर्ण समर्थ थे।

नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार – **श्री मान शेषनर नायक वन्दितांध्रि श्री गुप्तिगुप्त इति विश्रुत नामधेयाः।**[106] अर्थात् आपका अपर नाम गुप्तिगुप्त भी था। उस समय संघ में अनेक जैन श्रमण बड़े तपस्वी, विद्वान और संघ नायक के रूप में प्रसिद्ध थे, जो ध्यान और अध्ययन आदि में तत्पर रहते थे। ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य अर्हद्बलि के समय तक मूल दिगम्बर परम्परा में प्रायः संघ–भेद प्रकट रूप में नहीं हुआ था। प्राकृत पट्टावली में आचार्य श्री अर्हद्बलि जी का समय वीर निर्वाण सम्वत् 565 वि.स. 95 ई. सन् 38 है।[107] आचार्य अर्हद्बलि पाँच वर्षों के अन्त में सौ योजन में बसने वाले मुनि समाज (संघ) के साथ युग – प्रतिक्रमण किया करते थे।

आस्ते संवत्सर पंचकावसाने युग प्रतिक्रमणम्।
कुर्वन्योजन शत मात्र वर्ति मुनिजन समाजस्य।।
अथ सोऽन्यदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युग प्रतिक्रमणम।
मुनिजन वृन्दम पृच्छत्किं सर्वेऽप्यागतायतयः।।[108]

किसी समय पाँच वर्ष की समाप्ति अर्थात् युग के अन्त में युग प्रतिक्रमण कराते हुए उन्होंने सौ योजन मात्र में बसने वाले समागत मुनिजन समूह से पूंछा कि क्या सब मुनिजन आ गये ? उत्तर में मुनिजनों ने

कहा कि – भगवन् ! हम सब अपने-अपने सकल संघ के साथ आ गये हैं। उनके इन वचनों को सुनकर उन्होंने विचार किया कि इस कलिकाल में यहाँ से लेकर आगे अब यह जैन-धर्म गण (संघ) पक्षपात से स्थिर रहेगा, उदासीन भाव से नहीं रहेगा। यह सोचकर गणी (संघ प्रवर्त्तक) उन दूरदृष्टा अर्हद्बलि ने यतियों में एकता तथा अपनत्व की भावना, धर्म वात्सल्य और प्रभावना की अभिवृद्धि हेतु, व्यवस्था और अनुशासन के उद्देश्य से युग प्रतिक्रमण के यति सम्मेलन के अवसर पर ही अखण्ड दिगम्बर मूलसंघ में नंदि, वीर, अपराजित, देव, पंच स्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह और चन्द्र आदि अनेक अवांतर संघों की स्थापना की जिससे आप मुनि संघ प्रवर्त्तक कहे जाते हैं।

एवं तस्यार्हद् बलेर्मुनिजन सङ्घ प्रवर्त्तक स्यासन्।
विनय यजना मुनीन्द्राः पंचकुलाचार तोपास्याः।।[109]

इस प्रकार मुनि संघ के प्रवर्त्तक आचार्य अर्हद्बलि के विनय पूर्वक पूजा करने वाले मुनिवर 1.– गुफाओं के निवास से आने वाले 2.– अशोक वृक्षों के उद्यान से आने वाले 3.– पंच स्तूप्यनिवास से आने वाले 4.– शाल्मली वृक्षों की खोह से आने वाले तथा 5.– केसर वृक्षों की खोह से आने वाले, इन पाँच कुलों के आचार से वे उपासनीय थे।

तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् अन्तिम पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक भगवान महती महावीर का यह मूलसंघ अविच्छिन्न – अखण्ड रूप से चलता रहा। षट्खण्डागम, जैन धर्म का इतिहास, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, बृहद कथाकोष, आराधना कथाकोष भाव संग्रह और भद्रबाहु चरित्र आदि ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि आचार्य श्री भद्रबाहु जी ने अपने निमित्त ज्ञान से उज्जैनी (अवंतीदेश) में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष आने वाला जानकर ससंघ दक्षिणापथ की ओर

प्रयाण किया था। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने के पश्चात् यह संघ पुनः दक्षिण से मगध तथा उज्जैनी की ओर लौट आया और आचार्य श्री अर्हद्बलि जी तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। आचार्य भद्रबाहु स्वामी की परम्परा में दिगम्बर मूलसंघ श्रुतज्ञानियों के अस्तित्व की अपेक्षा वीर निर्वाण 683 तक बना रहा, परन्तु संघ व्यवस्था की दृष्टि से इसकी सत्ता आचार्य अर्हद्बलि के काल में समाप्त हो गयी।[110]

यहाँ स्पष्ट कर दें कि आचार्य भद्रबाहु ने अपने प्रवास-काल, प्रवास-स्थल (कटवप्र जो आजकल श्रवणवेलगोला कर्नाटक के नाम से प्रसिद्ध है) में अपने परम्परा प्राप्त उस आगम साहित्य (द्वादशांग वाणी) का प्रवचनों द्वारा अपने साधु-संघ को अध्ययन कराया अवश्य, किन्तु काल के प्रभाव से वह भी क्रमशः विस्मृत हो गया। संयोग से उसके (द्वादशांग वाणी के) अन्तिम दृष्टिवादांग (श्रुतज्ञान) का कुछ अंश अर्थात् उसके अग्रायणी-पूर्व नामक दूसरे पूर्व (प्रकरण) के (पंचम-वस्तु अधिकार की चयन-लब्धि के) महा कम्मपयडि पाहुड सुत्त नामक अंश के ज्ञाता आचार्य धरसेन थे।[111] इस प्रकार श्रुत के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर सब अंग पूर्वों का एक देश उसी अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।

दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश के वेणातट नगर में पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय एक बड़ा मुनि सम्मेलन हुआ था।[112] उस समय सौराष्ट्र देश के अन्तर्गत गिरिनगर पट्टन की चन्द्रगुहा में स्थित अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता उन आचार्य धरसेन ने क्षीण होते श्रुत के प्रवाह को देखकर जाना कि इस समय उन्हें जो अंग-पूर्वों का एकदेश ज्ञान प्राप्त है वह भी कालान्तर में अस्तगंत हो जाने वाला है। उन्होंने प्रवचन वात्सल्य एवं श्रुत विच्छेद के भय से एक लेख पत्र वेण्या नदी तट नगर के मुनि

सम्मेलन में दक्षिणा पथ के आचार्यों के पास भेजा। जिसमें देश, कुल, जाति से विशुद्ध शब्द-अर्थ के ग्रहण-धारण में समर्थ, विनयी दो विद्वान साधुओं को भेजने की प्रेरणा की गयी। संघ ने पत्र पढ़कर आन्ध्रप्रदेश में अवस्थित वेण्या नदी के तट से ऐसे उक्त गुणों में पारंगत दो योग्य साधुओं को उनके पास भेजा। प्रमाण स्वरूप षट्खण्डागम (धवला), इन्द्रनन्दि श्रुतावतार का उल्लेख यहाँ दृष्टव्य है -

सोरट्ठ-विसय-गिरिणायर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ- वोच्छेदो होहिदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणा वहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लोहो पेसिदो। लेहट्ठिय-धरसेणाइरिय-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि वे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल -वहु-विह-विणाय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल- कला-पारया तिक्खुत्ताबुच्छियाइरिया अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा।

उक्त विवरण के संदर्भ में हिन्दी अनुवादक ने महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु-सम्मेलन अर्थ लिया है।[113]

सिद्धान्त चिन्तामणी टीका में आर्यिका शिरोमणी ज्ञानमती माता जी लिखती हैं - सौराष्ट्र देशस्य गिरिनगर चन्द्रगुहा निवासिना अष्टांग महानिमित्त पारगेन श्री धसेनाचार्येण एकदा मनीस चिन्तितं, अग्रे अंग श्रुतस्य व्युच्छेदो भविष्यति इति केनाप्युपायंन तस्यांग श्रुतज्ञानस्य रक्षार्थ प्रयत्नो विधेयः तर्हि पंचवर्षीय साधु सम्मेलने सम्मिलित दक्षिण देश वासि सूरीणां पार्श्वे एको लेखः प्रेषितः। लेख स्थित धरसेनाचार्य वचनभवधार्य तैराचार्यैः ग्रहण धारण

समर्थौ देश कुल जातिद्धौ साधु प्रेषितौ आन्ध्रदेशस्य वेणानदी तटात्।[114]

उक्त दोनों उल्लेखों में युग प्रतिक्रमण एवं आचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया गया, साधु सम्मेलन का उल्लेख किया गया है। साथ ही आचार्य धरसेन ने आचार्य सम्मेलन के लिए जो लेख पत्र भेजा था, उसमें उन्होंने क्या लिखा था, यह वहाँ स्पष्ट नहीं है। किन्तु इन्द्रनन्दि श्रुतावतार में आचार्य धरसेन ने जो पत्र लिखा उस सन्दर्भ में लिखा है कि -

देशेन्द्र देशनामनि, वेणाकतटी पुरे महामहिमा।
समुदित मुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्राययल्लेखम्।।
आदाय लेखपत्रं तेप्यथ तद् ब्रह्मचारिणो हस्तात्।
प्रविमुच्य बंधनं वाचयाम्बभू वुस्तदा महात्मानः।।
स्वस्ति श्री मत ऊर्जयन्त तट निकट चन्द्रगुहा।
वासाद् धरसेनगणी वेणाकतट समुदित यतीन।।
अभिवंद्य कार्यमेवं निगदत्यस्माक मायुर वशिष्टम्।
स्वलपं तस्माद स्मच्छुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः।।
न स्याद् यथा-यथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहण धारण समर्थौ।
निशितप्रज्ञौ भूयं, प्रस्थापय तीति लेखार्थम्।
सम्यगवधार्य तैरपि, तथा विधौ द्वौ मुनि समन्विष्य।
प्रहितौ तावपि गत्वा, चापतुररमूर्जयन्त गिरिम्।[115]

अर्थात् - देशेन्द्र नामक देश में वेणाक तटी पुर में महामहिमा के अवसर पर विशाल मुनि समुदाय विराजमान था। श्री धरसेनाचार्य ने एक ब्रह्मचारी के हाथ वहाँ मुनियों के पास एक पत्र भेजा। उस समय ब्रह्मचारी के हाथ से उस लेख पत्र को लेकर व बन्धन को छोड़कर उन महात्मा

आचार्यों ने उसे इस प्रकार पढ़ा –

स्वस्ति श्री मान् ! ऊर्जयन्त तट के निकट वर्ती चन्द्रगुफा वास से धरसेन गणी (आचार्य) वेणाक तट पर स्थित मुनि समूहों (यतियों) की वन्दना करके इस कार्य को कहते हैं कि हमारी आयु अब अल्प ही अवशिष्ट रही है। इसलिए हमारे श्रुतज्ञान रूप शास्त्र का व्युच्छेद जिस प्रकार न हो, उसी तरह से आप लोग तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ दो यतीश्वरों को मेरे पास भिजवाने का अनुग्रह करें।

मुनि संघ ने आचार्य धरसेन के श्रुत रक्षा सम्बन्धी अभिप्राय को जानकर उपर्युक्त गुणों के धारक दो मुनियों का पूरे संघ में से अन्वेषण करके धरसेनाचार्य के पास भेज दिया। वे दोनों विहार करते हुए ऊर्जयन्त पर्वत पर पहुँच गए।

आचार्य श्री धरसेन द्वारा प्रेषित लेख सन्देश से ज्ञात होता है कि उस समय दक्षिण भारत में आचार्य श्री धरसेन के समकक्ष श्रुतांगधारी अनेक आचार्य थे, जिनका केन्द्र सम्भवतः आन्ध्रदेश ही रहा होगा।

राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज कहते हैं कि – आंध्र में नरवाहन जो राजा के पुत्र और नगर सेठ (राज्य श्रेष्ठी) के पुत्र सुबुद्धि पच्चीस-पच्चीस साल के राजकुमार नवदीक्षित बहुत बड़े विद्वान तथा सहपाठी थे, जो भूतवली और पुष्पदंत के नाम से प्रसिद्ध हुए। वहाँ पर पाँच लाख दिगम्बर साधुओं का सम्मेलन था। युग प्रतिक्रमण कहलाता था ये सम्मेलन।[116]

श्रवणवेलगोला के एक शिलालेख में आचार्य श्री पुष्पदंत और भूतबली को आचार्य अर्हद्बलि का शिष्य कहा है। शिलालेख में लिखा है–

य:पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्ये नापि शिष्य-द्वितयेन रेजे।
फल प्रदानाम जगज्जनानां प्राप्तो ऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः।।
अर्हद्बलिस्संघ चतुर्विध स श्री कोण्ड कुन्दान्वय मूलसंघम्।
काल स्वभावादिह जायमान द्वेषे तराल्पी करणाय चक्रे।।[117]

उक्त लेख से ऐसा ज्ञात होता है कि पुष्पदंत एवं भूतबली के दीक्षा गुरु आचार्य श्री अर्हद्बलि और शिक्षा गुरु धरसेनाचार्य रहे होंगे। यह शिलालेख शक संवत् 1320 का है।

वेणाक नदी तट के किनारे यति सम्मेलन सम्भवत: सन् 66 ई.पू. में हुआ था। इसके पश्चात् सकल संघ अपने-अपने आचार्य की अध्यक्षता में स्वतंत्र रूप से विचरण करने लगे। यद्यपि संघों की स्थापना वी.नि. 575 में कर दी गयी तथापि आचार्य श्री धरसेन जी आदि कुछ अंगाशधारियों की वीतराग परम्परा यत्र-तत्र बिखरी हुई वी.नि. 683 तक चलती रही। वी.नि.575 की अवधि में सम्मेलन की योजना का काल है। सम्मेलन 'पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण' के अवसर पर हुआ था क्योंकि 5 के अंक से 575 पूरा-पूरा विभाजित हो जाता है इसलिए यह भी अनुमान होना सम्भव है कि भगवान महावीर के पश्चात् यह 115 वाँ युग प्रतिक्रमण हुआ होगा।[118]

दिगम्बर जैन परम्परा में पूज्य आचार्य अर्हद्बलि के पश्चात् युग प्रतिक्रमण कराने के अन्य प्रमाण नहीं मिलते हैं। जबकि श्रमण परम्परा में आचार्य अर्हद्बलि के पश्चात् समय-समय पर अनेकानेक प्रतिभाशाली श्रमणाचार्यों का काल व्यतीत हुआ। युग प्रतिक्रमण - यति सम्मेलन से आचार्य ने दो योग्य प्रतिभाशाली मुनि आचार्य धरसेन के पास भिजवाये थे। जिनके कारण आगम ज्ञान लिपिबद्ध करने की परम्परा का शुभारम्भ हुआ। ऐसे महान आचार्य के नाम का उल्लेख तिलोयपण्णत्ति आदि

ग्रन्थान्तरों में प्ररूपित आचार्य परम्परा में वर्णित नहीं किया गया। यद्यपि आचार्य अर्हद्बलि एक देश अंग और अष्टांग निमित्त के ज्ञाता थे। संघ संगठन और श्रुत परम्परा की दृष्टि से युग प्रतिक्रमण यति सम्मेलन उनके महनीय कार्य थे, फिर भी उनका उल्लेख नहीं हुआ। यह एक सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है। सम्भवतः इसके पीछे उनके द्वारा प्रवर्तित (स्थापित) संघ भेद ही कारण प्रतीत होता है और मुनिजनों के विविध संघों में विभक्त हो जाने पर जो जिस संघ का था, वह अपने ही संघ के मुनिजनों को महत्त्व देना भी हो सकता है। उदाहरण स्वरूप – हरिवंश पुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी ने ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए आचार्य श्री समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद), रविषेण, वीरसेन गुरु और पार्श्वाभ्युदय के कर्ता जिनसेनाचार्य आदि अनेक आचार्यों को स्मरण किया है, किन्तु उन्होंने आचार्य कुन्द-कुन्द जैसे लब्ध प्रतिष्ठ आचार्य का वहाँ स्मरण नहीं किया।[119] इसी प्रकार आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में ग्रन्थान्तरों से सूत्र व गाथा आदि को उद्धृत करते हुए कहीं-कहीं गुणधर भट्टारक, गृद्धपिच्छाचार्य, समन्तभद्र स्वामी, यतिवृषभ, पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र भट्टारक आदि का उल्लेख किया है किन्तु कुन्द-कुन्दाचार्य विरचित पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की कुछ गाथाओं को धवला जी में उद्धत करते हुए भी आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया। इससे ज्ञात होता है कि इसका कारण संघ भेद आदि ही हो सकता है।[120] यद्यपि आचार्य अर्हद्बलि के पश्चात् प्रत्येक संघ अपनी- अपनी परम्परा अलग रखने लगा, जिसमें स्वभावतः संघ भेद के पश्चात् के केवल उन्हीं आचार्यों के नाम रक्खे जा सकते थे जो उसी संघ के हों या जो संघ भेद से पूर्व के हों।[121]

यति सम्मेलन - दिगम्बर जैन सभी साधु (चतुर्विध संघों) का एक

जगह एकत्रित होना-मिलना यति सम्मेलन कहा गया है। प्रति पाँच वर्ष में युग प्रतिक्रमण के नाम से संघों के मिलने का आगम प्रमाण मिलता है। श्री धरसेनाचार्य के समय वेणाक नदी के तट पर ऐसा यति सम्मेलन हुआ था, जहाँ से दो मुनि शिष्यों को उन्होंने श्रुतज्ञान प्रदान करने हेतु बुलाया था।[122] इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के अनुसार आचार्य अर्हद्बलि लगभग पाँच वर्षो की समाप्ति पर एक यति सम्मेलन करवाते थे। षट्खण्डागम की प्रस्तावना में एच. एल. जैन लिखते हैं कि अर्हद्बलि ने पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय बड़ा भारी यति सम्मेलन किया।[123] वहीं वे पहले लिखते हैं कि धरसेनाचार्य ने महिमानगरी के मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा। षट्खण्डागम की सिद्धान्त चिंतामणी टीका में लिखा है कि - **पंच वर्षीय साधु सम्मेलने सम्मिलित दक्षिण देश वासि सूर्यणां पार्श्वे एको लेखः प्रेषितः।** अर्थात् पंच वर्षीय साधु सम्मेलन में सम्मिलित दक्षिण देशवासी आचार्यों के पास एक लेख सन्देश भिजवाया।[124] इन विवरणों से ज्ञात होता है कि यति सम्मेलन की परम्परा आचार्य अर्हद्बलि और धरसेनाचार्य के समय परिपुष्ट अवस्था में विद्यमान थी। यद्यपि साधु सम्मेलन के सम्बन्ध में यत्र-तत्र कुछ और भी उल्लेख मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं -

श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार श्रमण भगवान महावीर स्वामी जी के परिनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में सर्वप्रथम सन्त सम्मेलन का उल्लेख तित्थोगाली, आवश्यक चूर्णि तथा परिशिष्ट पर्व ग्रन्थों में मिलता है। इस सम्मेलन में द्वादश वर्षीय भीषण दुष्काल के कारण श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया था। अनेक बहुश्रुत श्रमण काल को प्राप्त हुए। दुष्काल के कारण यथावस्थित सूत्र परावर्तन नहीं हो सका। अतः दुष्काल समाप्त होने पर सभी विशिष्ट संत पाटलीपुत्र (पटना) में एकत्रित हुए।

पाटलीपुत्र में जितने भी श्रमण एकत्रित हुए थे उनमें दृष्टिवाद का परिज्ञान किसी श्रमण को नहीं था। दृष्टिवाद जैन आगमों का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग था, जिसका संकलन किए बिना आगमों की वाचना अपूर्ण थी। बारहवें दृष्टिवाद के एक मात्र ज्ञाता आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी जी थे, जो उस समय नेपाल की तराई में महाप्राण ध्यान की साधना में संलग्न थे। संघ ने आगम निधि की सुरक्षा के लिए श्रमण संघाटक को नेपाल प्रेषित किया। श्रमण संघाटक ने आचार्य भद्रबाहु से नेपाल आने का निवेदन किया। आचार्य भद्रबाहु ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। वह संघ में वापिस आ गया। संघ ने उसे दुवारा आचार्य श्री भद्रबाहु जी के पास भेजा। उन्होंने संघ की प्रार्थना पर, सम्मान देते हुए संघ के प्रतिभावान श्रमणों को प्रेषित करने को कहकर उन्हें वाचना देना स्वीकार किया।

संघ ने मेधावी उद्यमी मुनि श्री स्थूलभद्र को बारहवें अंग के अध्ययन के लिए प्रेषित किया। परिशिष्ट पर्व के अनुसार पाँच सो शिक्षार्थी नेपाल पहुँचे थे। तित्थोगाली के अनुसार शिष्यों की संख्या 1500 थी। इनमें 500 श्रमण शिक्षार्थी थे और 1000 श्रमण परिचर्या करने वाले थे। आचार्य भद्रबाहु उन्हें सात वाचना प्रदान करते थे। एक वाचना भिक्षा चर्या से आते समय, तीन वाचना विकाल बेला में और तीन वाचना प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि में प्रदान करते थे। दृष्टिवाद अत्यन्त कठिन था। वाचना प्रदान करने की गति मंद थी। मेधावी मुनियों का धैर्य ध्वस्त हो गया। 499 शिक्षार्थी मुनि वाचना-क्रम को छोड़कर चले गये। मुनि स्थूलभद्र निष्ठा से अध्ययन में लगे रहे और आठ वर्ष में उन्होंने आठ पूर्वो का अध्ययन किया। इसका निरुपण परिशिष्ट पर्व में इस प्रकार किया है-

भद्रबाहु पादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः।
पूर्वाणामष्टाकं वर्षैर पाठी दष्टभिर्भृशम् ।।

उपदेश माला वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली, परिशिष्ट पर्व प्रभृति ग्रन्थों में उल्लेखित वर्णन से ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र ने दस पूर्वो का ज्ञान अर्थ से ग्रहण किया था और शेष चार पूर्वो का ज्ञान शब्दशः प्राप्त किया था। पाटली पुत्र की वाचना के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन प्राचीन साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं मिले यद्यपी दोनों परम्पराएं आचार्य भद्रबाहु जी को अपना आराध्य मानते हैं।[125]

द्वितीय सम्मेलन 153 ई. पू. द्वितीय शताब्दी के मध्य में हुआ था। सम्राट खारवेल जैन धर्म के उपासक थे, हाथी गुफा के 17 पंक्तियों के महत्वपूर्ण अभिलेख से यह प्रमाणित हो चुका है कि उन्होंने उड़ीसा में कुमारी पर्वत पर सुकृत, सुविहित, ज्ञानी, तपस्वी श्रमणों (जैन मुनियों) का सम्मेलन किया। जिसमें मथुरा, गिरनार, उज्जैन, कांचीपुर आदि चारों दिशाओं से, दूर-दूर से दिगम्बर जैन मुनि, पंडितगण सम्मिलित होने आए थे। इस मुनि सम्मेलन में राजा ने भगवान की दिव्य ध्वनि में उच्चरित उस शान्तिदायी द्वादशांग श्रुत का पाठ कराया। खण्डगिरि और उदयगिरि में इस सम्बन्ध में जो विस्तृत लेख उत्कीर्ण हैं, उससे स्पष्ट परिज्ञात होता है कि उन्होंने आगम वाचना के लिए सम्मेलन किया था। इस सम्मेलन में महागिरि परम्परा के बलिस्सह, बौद्धिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेन आचार्य, नक्षत्राचार्य प्रभृति दो सौ जिनकल्प उत्कृष्ट साधना करने वाले तथा आर्यसुस्थित आर्यसुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य प्रभृति तीन सौ स्थविर कल्पी श्रवण थे। आर्या पोइणी प्रभृति तीन सौ साध्वियाँ, भिखुराय, चूणक, सेलक प्रभृति सात सौ श्रमणोपासक और पूर्ण मित्रा प्रभृति सात सौ उपासिकाएँ विद्यमान थीं।

कलिंगाधिपति जैन चक्रवर्ती सम्राट खारवेल की कहानी उसी की जुबानी में सम्मेलन के समय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि - इस

समय बुद्धि जीवियों एवं आचार्यों में यह एक चिंतापूर्ण प्रस्ताव आया है कि काल दोष से द्वादशांग वाणी क्रमशः लुप्त हो रही है। उसकी सुरक्षा के लिए पठन-पाठन, अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं लेखन अत्यावशक है। अतः उपस्थित आचार्यों में से जिन्हें जो भी कण्ठ परम्परा से आगम ज्ञान मिला था उसका वाचन हुआ तथा उन्होंने उस ज्ञान को अपने-अपने शिष्यों को प्रदान किया और हमें इससे बड़ा आत्म सन्तोष हुआ कि आगम परम्परा का कुछ ज्ञान लुप्त होने से बच गया। इस आगम वाचना ने मुझे भी आत्म-बोध करा दिया है।[126]

तृतीय सम्मेलन विविध तीर्थ कल्प के अनुसार - **इत्थ दूसह दुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसंघं मेलिअ आगमाणुओगो पवत्तिओ खंदिलायरियेण**। अर्थात् - दुष्काल की परिसमाप्ति के पश्चात् मथुरा में श्रमण सम्मेलन सम्पन्न हुआ। यह सम्मेलन वीर निर्वाण सम्वत् 827 से 840 के मध्य में आचार्य स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में हुआ यह तृतीय सम्मेलन था। श्रुत सम्पन्न श्रमणों की उपस्थिति से सम्मेलन में चार चाँद लग गये। प्रस्तुत सम्मेलन में मधुमित्र, गन्धहस्ति प्रभृति 150 श्रमण उपस्थित थे। यह वाचना सम्मेलन मथुरा में होने से माथुरी वाचना कहलायी।

चतुर्थ सम्मेलन उसी समय दक्षिण और पश्चिम में जो संघ विचरण कर रहे थे, उनका सम्मेलन बल्लभी में आचार्य नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में हुआ। इसे बल्लभी वाचना या नागार्जुनी वाचना की संज्ञा मिली। इस वाचना का उल्लेख आचार्य हरिभद्र के बाद हुये भद्रेश्वर रचित कहावली ग्रन्थ में मिलता है।

पंचम सम्मेलन वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी ई. सम्वत् 454 से 466 के मध्य में बल्लभी में हुआ था। इस सम्मेलन के अध्यक्ष देवर्द्धिगण

हाथीगुम्फा शिलालेख
HATHIGUMPHA INSCRIPTION
UDAYAGIRI HILL, BHUBANESWAR [2nd Century B.C.]

नमो अरहंतानं [॥] नमो सवसिधानं [॥] ऐरेण महाराजेन महामेघ-
वाहनेन चेतराज वस वधनेन पसथ सुभ लखनेन चतुरंत लुठ [ण]
गुण उपेतेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन *Line - 1*

[पं] दरस वसानि सिरिकडार सरीरवता कीडिता कुमार कीडिका [॥]
ततो लेख रूप गणना ववहार विधि विसारदेन सवविजा वदातेन नव
वसानि योवरजं [प] सासितं [॥] संपुंण चतुवीसति वसो तदानी
वधमान सेसयो वेनाभि विजयो ततिये *Line - 2*

कलिंग राजवसे पुरिस युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति [॥] अभिसित
मतो च पधमेवसे वात विहत गोपुर पाकार निवेसनं पटिसंखारयति
कलिंगनगरि खिबीर [.] सितल तडाग पाडियो च बंधापयति
सबूयान प[टि]संठपनं च *Line - 3*

कारयति पनतिसाहि सतसहसेहि पकतियो च रंजयति [॥] दुतिये
च वसे अचितयिता सातकनि [.] पछिमदिसं हय गज नर रध बहुलं
दंडं पठापयति [॥] कन्हबेंणा गताय च सेनाय वितासिति असिक
नगरं [॥] ततिये पुन वसे *Line - 4*

गंधव वेद बुधो दप नत गीत वादित संदसनाहि उसव समाज कारापनाहि
च कीडापयति नगरिं [॥] तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं अहत
पुवं कलिंग पुवराज निवेसितं .... वितध मकुट
स [बिलमढित] च निखित छत *Line - 5*

भिंगारे हित रतन सापतेये सव रठिक भोजके पादे वंदापयति [॥]
पंचमे च दानी वसे नंदराज तिवस सत ओघाटितं तनसुलिय वाटा पनाडिं
नगरिं पवेस [य] ति ....[॥] अभिसितो च [छठे] वसे
राजसेयं संदंसयं तो सवकरवण *Line - 6*

अनुगह अनेकानि सतसहसानि विसजति पोर जानपदं [॥] सतमं च
वसं पसासतो वजिरघरवति ....स मतुक पद [पुंना]
स [कु] मार .... [॥] अठमे च वसे महति सेनाय महत
.... गोरधगिरिं *Line - 7*

घातापयिता राजगहं उपपीडापयति [॥] एतिन [.] च कंमपदान
संनादेन संबित सेन वाहने विपमुंचितुं मधुरं अपयातो यवनराज
...... म ...... मकति ...... पलव भार *Line - 8*

कपरुखे हय गज रध सह यति सवघरावास परिवसने ......
सव गहणं च कारयितुं ब्रम्हणानं जय परिहारं ददाति [॥] अरहत
[पसादाय] नवमे च वसे *Line - 9*

[नगरिय कलिंग] राजनिवासं महाविजय पासादं कारयति अठतिसाय
सतसहसेहि [॥] दसमे च वसे दंड संधि साम [मयो] भरधवस
पठानं महीजयनं .... कारापयति [॥] एकादसमे च वसे
[मनुनं] पायातानं च मनिरतनानि उपलभते [॥] *Line - 10*

कलिंग पुवराज निवेसितं पीथुडं गदभनंगलेन कासयति [॥] जनपद भावनं
तेरसवस सत कतं भिदति त्रमिर देह संघातं [॥]
बारसमे च वसे [सेनाहि] [सत] सहसेहि वितासयति उतरापध
राजानो [ततो] *Line - 11*

मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय पाययति [॥] मागधं
च राजानं बहसतिमितं पादे वन्दापयति [॥] नंदराज नीतं कालिंगजिन
संनिवेसं [कलिंग] [राज] गह रतन परिहारे हि अंग मगध वसुं च
नयति [॥] *Line - 12*

.... [मा] जिनो वसीकरोति [॥] तेरसमे च वसे सुपवत विजय
चके कुमारी पवते अरहते [हि] पखिन संसितेहि कायनिसीदियाय
यापञावकेहि राजभितिनं चिनवतानं वासासितानं पूजानुरत
उवासग [खा] रवेल सिरिना जीवदेह सयिका परिखाता [॥] *Line - 1*

.... [क] तु जतर [ल]खिल गोपुराणि सिहराणि निवेसयति
सत विसिकनं परिहारे हि [॥] अभुत मछरियं च हथिनाव [त]
परिहर [उपलभते] हय हथी रतन [मा] निकं [॥] पंडराजा एदानि
अनेकानि मुत मनिरतनानि आहारापयति इध सतस [हसानि] *Line*

.......सकत समण सुविहितानं च सव दिसानं यतिनं तपसि
इसिनं संघायनं अरहत निसीदिया समीपे पभारे वराकर समुथपिताहि
अनेक योजनाहि ताहि [पनतिसाहि सतसहसेहि] सिलाहि
सिहपथ रानि स [सिलावेहि] *Line - 15*

.......पटलिक चतरे च वेडुरिय गभे थंभे पतिठापयति पानतरिय
सतसहसेहि [॥] मुरिय काल वोछिनं च चोयठि अंग सतिकं तुरियं
उपादयति [॥] खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा धमराजा पसंतो
सुनं तो अनुभवं तो कलणानि *Line - 16*

......गुणविसेस कुसलो सव पासंड पूजको सव देवायतन संकार
कारको अपतिहत चक वाहन बलो चकधरो गुतचको पवत चको
वसुकुल विनिसितो महाविजयो राजा खारवेल सिरि [॥] *Line - 17*

निवन्ध सं. १२ - कलिंगाधिपति जैन चक्रवर्ती सम्राट खारवेल
(ई.पू. दूसरी सदी) का प्राकृत-भाषा एवं ब्राह्मी-लिपि (उदयगिरि-खंडगिरि भुवनेश्वर उड़ीसा)
में उपलब्ध ऐतिहासिक शिलालेख का मूल पाठ

सम्राट खारवेल शिलालेख

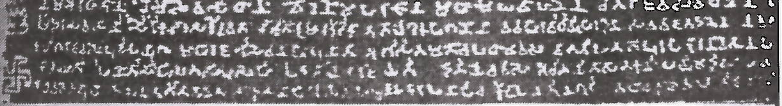

लिपि-ब्राह्मी, भाषा-ओड्रमागधी, समय-ई. पू. दूसरी शताब्दी
प्राप्ति-स्थल-भुवनेश्वर (उदयगिरि) उड़ीसा

णमो अरिहंतानं णमो सवसिधानं ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजवसबधेन ....
कलिंग के खारवेल सम्राट् महामेघवाहन तथा उनके राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में
(दूसरी शताब्दी ईसा. पूर्व) उदयगिरि में उनका जैन सम्मेलन हुआ ....

King Mahameghevahana Kharvela of Kalinga and his Jain council held at Udayagiri in the 13th year of his reign (2nd Century B.C.)

(89th Inter-Parliamentary Conference), 1979

क्षमा श्रमण थे। इनके कुशल नेतृत्व में आगमों का व्यवस्थित संकलन और लिपिकरण हुआ है।[127] इसलिए आगम लेखन का श्रेय इन्हें प्राप्त है। यह इस गाथा से स्पष्ट होता है –

वलहीपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समण संघेण।
पुत्थइ आगमु लिहियो नवसय असीआओ विराओ ।।

अर्थात् – वल्लभी नगरी में देवद्धिगण मुनि प्रमुख श्रमण संघ ने वीर निर्वाण 980 में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया था।

इन पाँचों सम्मेलनों में आगमों के सम्बन्ध में ही चिन्तन और मनन किया गया क्योंकि स्मृति की दुर्बलता, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्युवच्छित्ति प्रभृति अनेक कारणों से श्रुत साहित्य का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था। उन्हें पुनः व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया। उसके पश्चात् आगमों की वाचना को लेकर कोई सम्मेलन का उल्लेख मुझे नहीं मिला।

आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज के समय पंचेवर ग्राम में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन का उद्देश्य श्रुत के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं अपितु पारस्परिक क्रियाओं को लेकर गम्भीर विचार विमर्श हुआ। उसके पश्चात् राजस्थान प्रान्तीय मुनियों का सम्मेलन पाली में सन् 1932 में हुआ। अजरामपुरी अजमेर में सन् 1933 में एक विराट सन्त सम्मेलन हुआ जिसमें अनेक प्रस्ताव पारित हुए और स्थानकवासी समाज का भविष्य अत्युज्ज्वल दिखाई देने लगा। सन् 1952 में सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ। जिसके फलस्वरूप श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् भीनासर सम्मेलन 1955, अजमेर शिखर सम्मेलन 1964, 26 अक्टूबर 1965 को अहिंसा मन्दिर दरियागंज दिल्ली में तीन जैन सम्प्रदाओं के आचार्यों का मिलन शिखर सम्मेलन के

रूप में हुआ। दिगम्बर सम्प्रदाय के परम पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी, स्थानकवासी सम्प्रदाय के आनन्द ऋषि जी और तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य तुलसी जी इसमें सम्मिलित हुए। साडेराव राजस्थान प्रान्तीय सम्मेलन 1971 में आयोजित हुआ।[128] वर्तमान समय में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधु सम्मेलन यथा अवसर सम्पन्न होते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में विशिष्ट अवसरों-महोत्सवों में साधु संघ उपस्थित होते हैं जहाँ परस्पर उनका मिलन होता है, विशिष्ट रूप से श्रवणवेलगोला कर्नाटक में भगवान बाहुवली जी की प्रतिष्ठा के समय हुए महामस्तकाभिषेक महोत्सव (13 मार्च 981 ई.) पर अनेक साधु चतुर्विध संघ के साथ उपस्थित हुये थे। जहाँ उनका परस्पर मिलन एवं सम्मेलन हुआ। तब से अभी तक जितने भी महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हुये उनमें अनेक साधु संघ उपस्थित होते रहे हैं। सन् 1974 में भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर चारों जैन सम्प्रदाओं के आचार्यो परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर जी, परम पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज, पूज्य मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज, पूज्य आचार्य श्री तुलसी जी महाराज, पूज्य मुनि श्री सुशीलकुमार जी आदि अनेक साधु और पूज्य आर्यिकाऐं माता जी एवं साध्वियों का सम्मेलन आयोजित हुआ। जिसमें सामूहिक रूप से निर्णय लिया गया कि जैन धर्म का एक पचरंगा ध्वज, एक प्रतीक, एक ग्रन्थ समणसुत्तं और एक धर्म चक्र होना चाहिये।[129]

22 फरवरी सन् 1981 को श्रवणवेलगोला कर्नाटक में महामस्तकाभिषेक के समय दिगम्बर जैन साधुओं का चतुर्विध संघ के 151 साधु उपस्थित थे। यह साधु सम्मेलन कई दिनों तक चला और कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए गये। इन साधु संघों में प.पू. आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज, आचार्य शिरोमणी श्री विमलसागर जी महाराज,

आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज, एलाचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज आदि प्रमुख रूप से उपस्थित थे।[130] 14 मार्च 1987 को जम्बूद्वीप हस्तिनापुर में वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज ससंघ एवं आर्यिका रत्न ज्ञानमती माता जी ससंघ आदि की उपस्थित में पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण की लुप्त प्रायः परम्परा का प्रारम्भिकरण कर उसे पुनर्जीवित किया गया।[131]

सन् 2005 में कुंथुगिरि में प.पू. आचार्य श्री कुंथुसागर जी महाराज एवं आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज सहित दस आचार्यो का महामिलन हुआ जिसमें विविध विषयों पर विचार-विमर्श चला। सन् 2006 में श्रवणवेलगोला कर्नाटक महामस्तकाभिषेक के पावन अवसर पर प.पू. आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज ससंघ एवं आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज सहित चौदह आचार्य संघ लगभग चार सौ दिगम्बर संतों का समागम हुआ, जिसने एक बृहद संत सम्मेलन का रूप धारण कर लिया। सन् 2007 में वरूर कर्नाटक में प.पू. आचार्य कुंथुसागर जी महाराज एवं आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज सहित बारह आचार्य संघों की उपस्थिति में संत समागम हुआ। सन् 2007 में कुंजवन उदगाँव महाराष्ट्र में तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज, आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज सहित नौ आचार्यो का ससंघ मिलन हुआ। जिसमें आत्मकल्याण हेतु आध्यात्मिक परिचर्चाऐं सम्पन्न हुई।[132]

5 मई 2012 को पाणि नदी के समीपस्थ राजस्थान की वीर प्रसविनी भूमि गुलावी नगरी जयपुर में परम पूज्य गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के पावन सान्निध्य में युग प्रतिक्रमण के अवसर पर यति सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागर जी, पूज्य आचार्य श्री विभवसागर जी, पूज्य आचार्य श्री विमर्शसागर जी, पूज्य आचार्य (घोषित) श्री विहर्षसागर जी, पूज्य

आचार्य (घोषित) श्री विनिश्चयसागर जी, आचार्य श्री विमदसागर जी, पूज्य मुनि श्री विहितसागर जी, मुनि श्री विशोकसागर जी, मुनि श्री विश्रुतसागर जी, मुनि श्री विश्वाससागर जी, मुनि श्री विभंजनसागर जी आदि तथा पूज्य गणिनी आर्यिका विशाश्री, विभाश्री, विन्ध्यश्री, विज्ञाश्री और आर्यिका विशिष्टश्री, विदूषीश्री एवं विबोधश्री माता जी आदि 154 साधु चतुर्विध संघ सहित उपस्थित था।[133] पूज्य आचार्य श्री जी ने प्राच्य आचार्य श्री अर्हदबलि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए प्रतिक्रमण की महत्ता बतलाई। इस अवसर पर अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये। जिसमें एक विशिष्ट निर्णय श्रमण संघ की स्थापना का था। मुनि शब्द के आगे श्रमण और आर्यिका शब्द के आगे श्रमणी तथा आचार्य के आगे श्रमणाचार्य शब्द सम्बोधन का प्रयोग प्रारम्भ करने का निर्णय लिया गया। यह युग प्रतिक्रमण-यति सम्मेलन पुरातन ही 21वीं सदी में एक अभिनव प्रयोग था जिससे जनसामान्य बृहद स्तर पर परिचित हुआ।

राष्ट्रसंत परम पूज्य गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज का राष्ट्रीय रजत आचार्य पदारोहण महामहोत्सव वर्ष में पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण-यति सम्मेलन परम्परा का निर्वाहन करते हुये युग प्रमुख गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के ससंघ पुनीत सान्निध्य में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र करगुंवा जी झांसी उ. प्र. में विराजमान देवाधिदेव तेइसवें तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्वनाथ स्वामी जी की छत्रछाया में वृहद रूप से इसका आयोजन 16 मई से 25 मई 2017 तक हो रहा है। परम पूज्य श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज के पावन निर्देशन एवं श्रमणी आर्यिका श्री विवक्तश्री माता जी की पावन प्रेरणा से सम्पन्न होगा। जिसमें चतुर्विध संघों के साथ जनसमुदाय भी उपस्थित होकर धर्म लाभ एवं दिशा बोध प्राप्त कर रहा है।

परम पूज्य गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के अन्तर्मानस में यह भावना है कि श्रद्धेय मुनिगण ज्ञान और चारित्र में, आचार और विचार से उन्नत होने पर भी विभिन्न संघ परम्परा में विभक्त हैं, जिसके कारण जिनशासन की जो उन्नति होनी चाहिए वह नहीं हो पा रही है। विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने वाली सरिता अपने लक्ष्य स्थल पर नहीं पहुँच सकती। लक्ष्य स्थल पर पहुँचने के लिए अनेकता नहीं, एकता की आवश्यकता है। यदि हमारे ये सन्त भगवन्त एक हो जायें, सुसंगठित और व्यवस्थित हो जायें तो जिनशासन की महती प्रभावना हो सकती है। जैन धर्म की विजय-वैजयन्ती हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक ही नहीं अपितु विराट विश्व में फहरा सकती है।

प्रतिक्रमण की परम्परा – मूलाचार ग्रन्थ के सृजनकर्ता प.पू. आचार्य श्री जी ने चौबीस तीर्थकरों के संघ में प्रतिक्रमण क्रिया के विधान की परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि – प्रथम तीर्थकर भगवान श्री ऋषभदेव जी और अन्तिम तीर्थकर भगवान श्री महावीर स्वामी जी का धर्म प्रतिक्रमण सहित था। दोनों तीर्थकरों ने अपने शिष्यों को अतिचार लगे या न लगे किन्तु दोषों की विशुद्धि के लिए समयानुसार प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया। किन्तु मध्य के बाईस तीर्थकरों अर्थात् द्वितीय तीर्थकर भगवान श्री अजितनाथ जी से लेकर तेईसवें तीर्थकर भगवान श्री पार्श्वनाथ जी ने अपराध (दोष) होने पर ही प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया, और कहा कि – जिस व्रत में स्वयं या अन्य साधु को अतिचार हो उस दोष के नाशार्थ उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए क्योंकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धिशाली, एकाग्रमन वाले, प्रेक्षापूर्वकारी अतिचारों की गर्हा एवं जुगुप्सा करने वाले तथा शुद्ध चारित्रधारी होते थे, वे प्रत्येक क्रिया आगमानुसार करते थे और यदि उनसे जब कभी भी कोई दोष हो जाता था, तो उस दोष की गर्हा – प्रतिक्रमण करके शुचिता को

प्राप्त करते थे। किन्तु प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव जी और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी जी के शासनकाल के शिष्य चंचल चित्त वाले, मोही तथा वक्र (जड़) बुद्धि वाले होते थे, बार-बार समझाने पर भी नहीं समझते थे। अतः ईर्यापथ, आहार गमन, स्वप्न आदि में किसी भी समय अतिचार होने या न होने पर भी उन्हें सभी नियमों एवं प्रतिक्रमण को करने का विधान किया है।[134] इसी विधान के अनुसार आज तक सभी मुनियों-आर्यिकाओं आदि को दोषों के परिमार्जन हेतु नित्य प्रतिक्रमण करने की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उन्हें सभी प्रतिक्रमण दण्डक करने होते हैं, जिससे एक में मन स्थिर न हो तो दूसरे या तीसरे में हो सके। साधक से अगर सहज रूप से कोई भूल, गलती हो जाये तो वह अपने दोषों को '**मिच्छामि दुक्कड़ं**' कहकर निरस्त कर सकता है। '**मिच्छामि दुक्कड़ं**' का अर्थ है – मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो ! निष्फल हो ! निरर्थक हो ! यह प्रक्रिया है स्वयं की गलती या भूलों के लिए स्वयं से क्षमा माँगना। इस शब्द के साथ क्षमा भी है और भविष्य में गलती या भूल न करने की भावना भी है। प्रतिक्रमण मात्र क्रिया तक ही सीमित न होकर दोष शुद्धि भी होना आवश्यक है तभी वह सार्थक कहा जाता है।

इस तरह प्रतिक्रमण तीर्थंकर परम्परा से प्रारम्भ हुई मूल क्रिया है जो श्रमणाचार में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह षट्‌वश्यकों के अन्तर्गत होते हुए भी अपनी अत्यधिक महत्ता के कारण आज-कल प्रतिक्रमण आवश्यक शब्द का पर्यायवाची बन गया है। नियमसार प्राभृत में लिखा है कि –

आद्ये जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डेऽस्यामवसर्पिण्यामधुना दुष्षमकाले महति महावीरजिनशासन काले यथा समयं प्रत्येक मपि प्रतिक्रमण क्रियां साधवो दण्डकोच्चारण पूर्वकं कुर्वन्त्येव।[135]

अर्थात् इस जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के अन्तर्गत आर्यखण्ड में इस अवसर्पिणी के दुष्षमकाल में महती महावीर भगवान के जिनशासन काल में यथा समय साधुगण प्रत्येक प्रकार की प्रतिक्रमण क्रिया को दण्डक सूत्रों के उच्चारण पूर्वक करें ही करें।

प्रतिक्रमण का निर्देशन –

प्रमुखतः साधुओं की जीवन चर्या से सम्बन्धित स्थानांग सूत्र में छह बातों के लिए प्रतिक्रमण करने का निर्देश किया है –

1. **उच्चार प्रतिक्रमण** – विवेक पूर्वक पुरीष त्याग यानि मल आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्या (जाने-आने में हुई जीव हिंसा) का प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है।

2. **प्रश्रवण प्रतिक्रमण** – विवेक पूर्वक लघुशंका को करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना प्रश्रवण प्रतिक्रमण है।

3. **इत्वर प्रतिक्रमण** – स्वलपकालीन (दैवसिक, रात्रिक आदि) प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है।

4. **यावत्कथित प्रतिक्रमण** – सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होना यावत्कथित प्रतिक्रमण है।

5. **यत्किचिंन्मिथ्या प्रतिक्रमण** – संयम में सावधानी पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी प्रकार का असंयमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चाताप करना यत्किचिंन्मिथ्या प्रतिक्रमण है।

6. **स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण** – स्वप्न में यदि कोई विकारी भावनाएँ उद्बुद्ध हुई हों तो उसका प्रतिक्रमण करना। अर्थात् विकार वासना रूप

कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चाताप करना स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण है।[136]

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने मिथ्यात्व असंयम, कषाय एवं अप्रशस्त कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों का प्रतिक्रमण करने का निर्देश किया है।[137] प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न बातों का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है –

पडि सिद्धाणं करणे, किच्चाणम करणे पडिक्कमणं।
असद्धहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए अ।।[138]

अर्थात् – गृहस्थ एवं श्रमण उपासक के लिए निषिद्ध कार्यो का आचारण कर लेने पर, जिन कार्यो के करने का आगम आचार संहिता में विधान किया गया है उन विहित कार्यो का आचारण न करने पर, अश्रद्धा एवं शंका के उपस्थित हो जाने पर और असम्यक् एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपालन करने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जैन परम्परा के अनुसार प्रतिक्रमण किसका किया जाना चाहिए इसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है –

1. पच्चीस मिथ्यात्वों, चौदह ज्ञानातिचारों और अठारह पाप-स्थानों का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिए।

2. पंच महाव्रतों, मन, वाणी और शरीर के असंयम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण निक्षेप एवं मल-मूत्र विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण श्रमण साधकों को करना चाहिए।

3. पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों को करना चाहिए।

4. सल्लेखना का व्रत जिन्होंने ग्रहण किया हो उन साधकों को सल्लेखना के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहिए।

श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र में एवं श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र में सम्बन्धित सम्भावित दोषों की सविस्तार विवेचना की गई है। इसके पीछे मूल दृष्टि यह है कि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्तम दोष भी विचार पथ से ओझल न हों।[139]

प्रतिक्रमण की प्रक्रिया - प्रतिक्रमण एक आध्यात्मिक क्रिया है। जो दो प्रकार से सम्पन्न की जाती है, प्रथम स्वाधीन द्वितीय गुरु साक्षी में। जब अल्प दोष होते हैं तो गुरु साक्षी आवश्यक नहीं होती है वस्तुतः विशेष प्रकार से दोष निराकरण हेतु अथवा सल्लेखना आदि विशेष प्रसंगों में गुरु की साक्षी अनिवार्य होती है। सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिककार कहते हैं - **मिथ्यादुष्कृताभि धानादभिव्यक्त प्रतिक्रियं प्रतिक्रमणं।**[140] अर्थात् 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है। **अस्थितानां योगानां धर्म कथादि व्याक्षेप हेतु संनिधानेन विस्मरणे सत्यालोचनं पुनरनुष्ठायकस्य संवेग निर्वेद पदस्य गुरु विरहित - स्यास्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृत मित्येवमादिभिर्दोषा निवर्तनं प्रतिक्रमणंमिति।**[141] अर्थात् धर्म कथादि में लग जाने से यदि प्रतिज्ञात ध्यान आदि करना भूल जायें या कोई विघ्न के कारण उपस्थित हो जाने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगों को भूल जाये तो वह पहले आलोचना करते हैं और फिर वे संवेग और निर्वेद (वैराग्य) में तत्पर रहें। समीप में गुरु न हों तथा अल्प अपराध लगा हो तो 'मैं फिर ऐसी गलती पुनः नहीं करूंगा, मैं ऐसा कभी नहीं करूंगा - 'यह मेरा पाप मिथ्या हो' इस प्रकार दोषों से अलग रहना प्रतिक्रमण कहलाता है। यह प्रतिक्रमण आचार्य की अनुज्ञा प्राप्त करके शिष्य को ही करना चाहिये।

मिथ्यामदाऽऽगोऽस्त्वित्या द्यैर्यद्दोषेभ्यो निवर्तनम्।

प्रतिक्रमण मल्पापराध स्यैकाकिनो मुनैः।।[142]

अर्थात् जो मुनिराज अकेले हों और उनके चारित्र में कोई थोड़ा सा दोष लग जाए, तो वे मुनिराज वह 'मेरा पाप मिथ्या हो' इत्यादि प्रकार से लगे हुए दोषों के लिए पश्चाताप करते हैं, वह प्रतिक्रमण है।

गुरुण मालोचणाए विणास संवेण णिव्वेयस्स पुणो ण करेमित्ति जमवराहादो णियत्तणं पणिक्कुमणं पायच्छित्तं।[143] अर्थात् गुरुओं के समक्ष आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु का फिर कभी ऐसा न करूंगा ऐसा कहकर अपने अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित है।

एदं (पडिक्कमणं पायच्छित) कत्थ होदि। अप्पावराहे गुरुहि विणा वट्ठमाणम्हि होदि।[144]

अर्थात् – जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हों तब यह प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित है।

निहितव्यः प्रयत्नेन निंदा गर्हा शुचादिभिः। गुर्वादि साक्षितं दक्षै वृंतध्नोऽरिरिवोत्पितः।[145]

अर्थात् – निंदा, गर्हा और सुचिता के साथ गुरु आदि की साक्षी पूर्वक बड़े प्रयत्न से दूर करना चाहिए तथा उस दोष को व्रतों को नाश करने वाले शत्रु के समान समझकर उनका निराकरण करना चाहिए।

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना,

रागद्वेषमलीमसेन मनसा श्री धर्मभावाद् विना।

दुष्कर्मार्जित मर्हतामधिपते। त्वत्पाद मूलेऽत्र

तन्निंदा पूर्वक मुज्जहामि सुपथे वर्वतिषुः साम्प्रतं।[146]

अर्थात् – श्री धर्मभाव के बिना अत्यन्त पापी, दुष्ट अज्ञानी, कपटी और लोभी मैंने रागद्वेष से मलिन–मन से जो दुष्कर्म अर्जित किया है, उसे मैं हे जिनेन्द्र ! आपके पादमूल में निन्दा पूर्वक छोड़ता हूँ। अब मैं सुपथ पाप निवृत्ति के मार्ग में स्थित रहना चाहता हूँ। यह प्रतिक्रमण नामक आवश्यक की प्रतिज्ञा है।

अनादि अभ्यास वश स्खलना होना स्वभाविक है और पद–पद पर भूलें भी होती हैं उन भूलों स्खलनाओं का संशोधन प्रतिक्रमण द्वारा किया जाता है। प्रमाद कृत अतिचार अति सूक्ष्म होते हैं, वे 'मिच्छा मे दुक्कडम्' इतना कहने मात्र से दूर किये जा सकते हैं। वहाँ गुरु की साक्षी अनिवार्य नहीं है। आत्म–निंदा की प्रमुखता से प्रतिक्रमण को स्वाधीन प्रक्रिया कहा है। लेकिन जब दोष बड़ा हो तो उसका निराकरण गुरु साक्षी में ही किया जाना सम्भव होता है। प्रतिक्रमण द्वारा साधक स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को आच्छादित करता है। प्रमादवश जो स्खलन हो जाता है उसे प्रतिक्रमण के द्वारा दूर करता है। शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोककर, शवलादि दोष रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधि पूर्वक अपनी इन्द्रियों को सन्मार्गगामी बनाकर संयम मार्ग में विचरण करता है।"[147]

तस्यचारित्रा विचल स्थितिहेतोः प्रतिक्रमादि निश्चयक्रिया निगद्यते।[148]

अर्थात् – उस चारित्र में अविचल स्थिति के लिए प्रतिक्रमण आदि निश्चय क्रियाओं को कहते हैं। चारित्र को दृढ़ करने के लिए प्रतिक्रमण होता है। यथार्थ में प्रतिक्रमण किसके होता है! इसका स्पष्ट वर्णन कुन्द–कुन्द स्वामी ने किया है –

मोत्तूणवयणरयणं, रागदीभाववारणं किच्चा।

अप्पाणं जोझायदि, तस्सदुहोदि त्ति पडिकमणं।[149]

अर्थात् – जो वचन रचना को छोड़कर रागदि भावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है, उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमण के होने पर ही चारित्र निर्दोष हो सकता है। अतः कृत दोषों से शुद्ध होकर भविष्य में उन दोषों को न करने की सावधानी रखना प्रतिक्रमण है जिससे आत्मा धीरे-धीरे सर्व दोषों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थ हो सके। इसलिए प्रतिक्रमण आध्यात्मिक क्रिया है।

युग प्रतिक्रमण और आत्मशुद्धि – प्रतिक्रमण के माध्यम से साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, व्रत समिति, गुप्ति, दश विधि धर्म, श्रुत, स्वाध्याय, आचार और संयम आदि किसी भी साधना में कहीं भी प्रमादवश जाने-अनजाने में हुई जरा सी भी भूलों, दोषों, अपराधों, अतिचारों या विराधनाओं को स्वयं आत्म निरीक्षण करके देखता है, उन्हें सूक्ष्मता से पकड़ता है यानि पद-पद पर हुई भूलों आदि को स्मरण करके उन्हें भूल महसूस करता है फिर उन्हें न करने का निश्चय करता है, और आप्त गुरुजन के समक्ष निष्कपट मन से प्रगट कर दोष को प्रकट रूप से स्वीकार कर लेता है।

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राण तत्व है। साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन की गहराई से निरीक्षण करते हैं। उनके मन में, वचन में, काया में एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय यदि कभी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायवश साधनाच्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का तलस्पर्शी रूप से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करता है। मन में छुपे हुए दोष जो लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सके उन दोषों को सद्गुरु आचार्य के समक्ष या भगवान की साक्षी में प्रकट कर देते हैं। जैसे कुशल चिकित्सक

परीक्षण करता है और शरीर में हो रही व्याधि को एक्सरे आदि के माध्यम से बता देता है वैसे ही प्रतिक्रमण में साधक (साधु) अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए उन दोषों को व्यक्त कर हल्के बनते हैं। क्योंकि जब साधक अपने जीवन का अवलोकन निरीक्षण करते हैं तो उन्हें अपने जीवन में अनेक दोष परिलक्षित होते हैं, उन दोषों को वे आचार्य गुरु के समक्ष निकालने का प्रयास करते हैं। साधक के जीवन की एक अतिविशिष्ट विशेषता है कि वह गुणग्राही होते हैं उनकी दृष्टि हंस दृष्टि होती है वे हंस की तरह सद्‌गुणों के पय (क्षीर/दूध) को ग्रहण करते हैं, मुक्ताओं को चुगते हैं। साधक के जीवन में जो स्खलनाएँ हुई हैं उन्हें भविष्य में नहीं दुहरायेंगे। इस प्रकार वह भविष्य में अधिक सावधान रहने का दृढ़ संकल्प करते हैं। आत्म दोषों की आलोचना करने से पश्चाताप की भावना जाग्रत होने लगती है और उस पश्चाताप की अग्नि में सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण प्रायश्चित करने से व्रतों की शुद्धि होती है, भावों की शुद्धि होती है, चंचलता का अभाव होता है, शल्य का परिहार होता है और धर्म में दृढ़ता आदि होती है। प्रायश्चित वही लेता है, जिसका मन सरल होता है। जैसे कुशल चिकित्सक के हाथों दी गई औषधि को रोगी, अपने लिए हितकारी जान कड़वी होने पर भी बड़े उत्साह से ग्रहण करता है, वैसे ही प्रायश्चित से शिष्य, गुरु द्वारा प्रदत्त अल्प या अधिक प्रतिकार को अपना हितकारी समझ स्वीकार करते हैं। प्रायश्चित ग्रहण करने वाले उसे गुरु की कृपा ही समझते हैं।

युग प्रतिक्रमण की आवश्यकता - धर्मामृत अनगार में आचार्य प्रवर श्री आशाधर जी ने पाँच वर्ष में किए जाने वाले युग प्रतिक्रमण का उल्लेख किया है। यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि जब साधक (साधु) प्रतिदिन, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक यथा समय

नियमित प्रतिक्रमण करते हैं फिर पाँच वर्ष के अन्त में युग प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है कि – जैसे हम प्रतिदिन गृह की सफाई करते हैं फिर भी पक्ष, मास, वर्ष और पर्व-उत्सव आदि के अवसर पर गृह की विशिष्ट सफाई की जाती है वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना की जाती है, पर पर्व के विशेष दिनों में जागरुक रहकर जीवन का निरीक्षण और परीक्षण आवश्यक है। इसके साथ ही जो शिष्य (साधु) अपने पूज्य आचार्य श्री जी से पृथक् रहकर नाना क्षेत्रों में विहार एवं चर्या में निरत रहते हैं, उन्हें युग प्रतिक्रमण के अवसर पर आचार्य गुरु के सानिध्य का अवसर प्राप्त होता है। जिससे वे आत्म निरीक्षण, परीक्षण और आत्म प्रक्षालन कर आत्म शुद्धि करते हैं। यह प्राचीन परम्परा अनवरत रूप से हमें प्राप्त हुई, लेकिन कालान्तर में यह परम्परा लुप्त प्रायः हो गयी थी। कई वर्षों से साधुओं के मध्य युग प्रतिक्रमण जन सामान्य के समक्ष वृहद् रूप में सम्पन्न नहीं हुआ था। राष्ट्र संत गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज ने युग प्रतिक्रमण-यति सम्मेलन जिनशासन की परंपरा को सन् 2012 में पुनः प्रवर्तित किया ।

गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज इस विशाल संघ के महानायक हैं, गणाचार्य हैं आपके आशीष से ही यह विशाल संघ संगठित है। संघ किसी एक-दो से नहीं बनता, संघ अनेकों की समजीवन परिपाटी से बनता है। संघ तब बनता है, जब एक-दूसरे में विश्वास हो, आत्मीयता हो, ध्येय की निष्ठा हो। वस्तुतः युग प्रतिक्रमण-यति सम्मेलन मात्र प्रदर्शन हेतु ही नहीं वरन् इससे कार्य करने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त होगी। समस्त श्रमण संघों में परस्पर संघ वात्सल्य में यह हेतु बनेगा, संघ वात्सल्य का शंखनाद होगा। तीर्थंकर प्रणीत परम्परा में श्रमणों का परस्पर व्यवहार अर्थात् समाचार विधि तथा जिनाज्ञा का पालन करने का सन्देश-शिक्षा मिल सकेगी। अष्टांग सम्यक् दर्शन में दृढ़ता प्रदान हो

सकेगी । बौद्धिक जगत में विद्वान आदि भी युग प्रतिक्रमण-यति सम्मेलन से परस्पर में जुड़कर जिन प्रभावना के मार्ग में अग्रसर होंगे तथा वर्तमान कलिकाल में जो संस्कारों का ह्रास हो रहा है उसके लिए संत और विद्वानों के माध्यम से नये-नये अनिमेष (द्वार) खुलेंगे। जिससे जन सामान्य भी सद्मार्ग को सहज रूप में समझकर ग्रहण कर सकेंगे। अपनी दुर्बलता, कमियों, दोषों को दूर कर सत्पथ का पथिक बन जीवन का कल्याण कर सकेंगे। अतीत के सिंहावलोकन से व्यक्ति की सक्षम का अंकन होगा और भविष्य में संशोधित कार्य पद्धति का विकास होगा। ऐसे स्वर्णिम अवसरों पर सामान्यतः वैचारिक आदान-प्रदान की मुख्यता रहती है जो आगे जाकर रचनात्मक प्रवृत्तियों में सहयोगी बनेगी।

अर्वाचीनता और प्राचीनता ये प्रगति के पैर हैं। एक उठा हुआ है और दूसरा टिका हुआ है। परम पूज्य गणाचार्य श्री जी दोनों पैर आकाश में उठाकर उड़ना नहीं चाहते और न दोनों पैर पृथ्वी पर टिकाकर स्थिर रहना चाहते हैं। आप निरन्तर और निर्बाध आत्म प्रगति करना चाहते हैं। उसके लिए आवश्यक क्रम यही मानते हैं कि कुछ गतिशील हों, कुछ स्थिर हों। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव होता रहे। कुछ लोग अर्वाचीन बात से दूर रहना चाहते हैं और कुछ प्राचीन बात में ही संलग्न रहना चाहते हैं। कारण कुछ भी हो सकते हैं किन्तु परम पूज्य गणाचार्य श्री जी प्राचीनता की भूमि पर अवस्थित होकर अर्वाचीनता का स्वागत करने में संकोच नहीं करते वस्तुतः आप अर्वाचीनता और प्राचीनता के मध्य सेतु हैं जो दोनों तटों को मिलाते हैं। इस यति सम्मेलन से एकता-संगठन की समाज को प्रेरणाऐं मिलेंगी। संगठन ही जीवन है, बिना संगठन के समाज सही प्रगति नहीं कर सकता। सूरिगच्छाचार्य विरागसागर जी महाराज का यह दूरगामी चिंतन जिनशासन के प्रति श्रद्धा भाव समस्त श्रमण संस्कृति को धर्म प्रभावना के आलोक से आलोकित कर रहा है ।

युग प्रतिक्रमण से लाभ – यदि साधक दोषों से निवृत्त न हो तो वह दोष मन में ही छिपकर रह जाते हैं। जो अन्दर ही अन्दर वृद्धिंगत होकर साधना में अवरोधक बन सकते हैं। इसलिए प्रतिक्रमण और प्रायश्चित के माध्यम से साधक दोषों से निवृत्त होते हैं। प्रतिक्रमण अतीत में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के साथ वर्तमान और भविष्य काल के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीत काल में लगे दोषों की आलोचना प्रतिक्रमण में की जाती है। वर्तमान काल में भी साधक संयम साधना में संलग्न रहकर दोषों से बचते रहते हैं साथ ही प्रत्याख्यान ग्रहण करने से भावी दोषों से भी बच जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्रमण त्रैकालिक विषयक होता है। आवश्यक सूत्र के अनुसार – भूतकाल के अशुभयोग से निवृत्ति, वर्तमान काल में भविष्य कालीन अशुभयोग से हटकर शुभयोग में प्रवृत्ति करेंगे या करूँगी यह संकल्प होने से प्रतिक्रमण तीनों कालों का होता है। प्रतिक्रमण क्रिया का उद्देश्य पूर्वकृत दोषों को दूर करना, वर्तमान में वैसे दोषों को जीवन में प्रविष्ट होने से रोकना और भविष्य में फिर वैसे ही दोषों को न करने हेतु सावधान हो जाना है, ताकि कर्मों के आस्रव और बंध से मुक्त होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो सके। इससे अनात्मभाव विलय होकर आत्मभाव की जागृति होती है। प्रमाद जन्य दोषों से निवृत्ति होकर आत्म स्वरूप में स्थिरता की क्रिया भी प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण करने से अहिंसादि व्रतों के दोष रूप छिद्रों का निरोध होता है और छिद्रों का निरोध होने से आत्मा आस्रव निरोध (संवर) करता है तथा शुद्ध चारित्र का पालन करता है। यह मोक्षमार्ग में सहायक होने के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रतिक्रमण द्वारा पूर्व संचित कर्मों की स्थिति और अनुभाग कम होता है अथवा अशुभ पाप प्रकृतियों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण होता है। यह अभ्यास कालान्तर में संस्कार वश जागृत रहने से विरक्ति का भाव

सुदृढ़ रहता है। इसलिए गृहस्थ श्रावक को भी प्रतिक्रमण प्रतिदिन, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक, पाँच वर्ष में या जीवन में एक बार अवश्य कर लेना चाहिये। कर्मों से छुड़ाने में प्रतिक्रमण ही प्रथम साधन है। युग प्रतिक्रमण में साधुजन एक स्थान पर एकत्रित होकर गुरु दर्शन तथा गुरु साक्षी में आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करने का लाभ प्राप्त करते हैं, इसमें परस्पर विचार-विमर्श और वात्सल्य वृद्धि का अवसर प्राप्त होता है, आत्मविशुद्धि, आत्मप्रेरणा तथा विशिष्ट अनुभव, नूतन अनुभूतियाँ, अभूतपूर्व धर्म प्रभावना का अंश बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। युग प्रतिक्रमण से साधु संघ एवं समाज में एकता, संगठन और सौहार्द्रता का संचार होता है। संसार में वही व्यक्ति अत्यन्त सौभाग्यशाली होते हैं जो अपने जीवन में प्रतिक्रमण एवं युग प्रतिक्रमण में सम्मिलित होकर आत्म प्रक्षालन करते हैं एवं अपने दोषों की निन्दा/गर्हा/आलोचना/प्रायश्चित करते हैं तथा सभी से क्षमा माँगते हुए सभी को क्षमा करते हैं।

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्व मूएसू वैरं मज्झं ण केण वि।।

आत्मा में प्रमाद व असावधानी के कारण दोष उत्पन्न हो जाते हैं। दोषों को दोष समझकर उनसे बचते रहना, आत्म गुणों का गुण समझकर तद्रूप परिणत होते रहना यही जीवन शोधन एवं भेद विज्ञान की अपूर्व कला है।

विभिन्न जैनेत्तर धर्म परम्परायें और प्रतिक्रमण - भारतीय संस्कृति में साधना का गौरवपूर्ण स्थान है। धर्म साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल-समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। साधना को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही! साधक अपने साध्य को प्राप्त करता

है। जैन धर्म में दोषों की विशुद्धि के लिए और गुणों की अभिवृद्धि के लिए प्रतिक्रमण का निरुपण किया गया है। उसी प्रकार वैदिक परम्परा में संध्या कर्म है, बौद्ध परम्परा में उपासना आदि है, पारसियों में खोरदेह अवेस्ता है, यहूदि और ईसाईयों में प्रार्थना है तथा इस्लाम धर्म में नमाज है। विभिन्न धर्म परम्पराओं में प्रतिक्रमण विषयक विचारणा पर निम्न प्रकार से संक्षेप में प्रकाश डाला गया है –

वैदिक परम्परा और प्रतिक्रमण – वैदिक संस्कृति के मनीषियों ने भी पाप पंक से मुक्त होने के लिए विविध विधान किये हैं। वैदिक काल से ही धार्मिक कृत्यों के होते समय किसी प्रकार की अनियमितताओं एवं दुर्घटनाओं के रक्षार्थ तथा दुर्निमित्तों या व्यक्तिगत आपत्तियों के लिए कुछ कृत्य सम्पादित किये जाते रहे हैं। ऋग्वेद के अनुसार – महर्षियों के अन्तर्मानस में पाप रहित होने की प्रबल भावना पाई जाती है। पापों की संख्या, उनके विविध प्रकारों के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया गया है।[150] ऋग्वेद में कहा गया है कि – बुद्धिमान या विज्ञों के लिए सात मर्यादाएँ बताई गयी हैं। उनमें से किसी एक का भी जो भी अतिक्रमण करता है वह पापी है।

धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि अत्यन्त आरम्भिक काल में भी सबके समक्ष पाप निवेदन करना पापमोचन का साधन माना जाता था। मनु ने व्यवस्था दी है कि कोई भी पापी, लोगों के समक्ष पाप निवेदन करने से, अनुताप करने से तपों द्वारा वैदिक वचनों के जप द्वारा तथा यदि वह तप न कर सके तो दान द्वारा पाप के प्रतिफलों से मुक्त हो जाता है और जब 'मैं ऐसा अब कभी न करूंगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है तो वह पवित्र हो जाता है। विष्णु पुराण में आया है कि यदि पाप करने के उपरान्त व्यक्ति अनुताप (पश्चाताप या परिताप) करता है तो सबसे बड़ा प्रायश्चित है हरि

स्मरण। गौतम धर्मसूत्र में अपराध पूर्ण कर्मों के प्रभावों के शमन के लिए पाँच साधन बताये हैं यथा - जप, तप, होम, उपवास एवं दान। पुराणों में यहाँ तक बताया है कि कृष्ण के नाम का स्मरण सभी प्रायश्चितों एवं तपों से उत्तम है और यदि कोई व्यक्ति प्रातः, मध्यान्ह, सांय, रात्रि या अन्यकालों में नारायण का स्मरण करता है उसके सभी पाप कट जाते हैं।[151]

वैदिक परम्परा में संध्या कृत्य में जिस यजुर्वेद के मंत्र का उच्चारण किया जाता है वह प्रतिक्रमण विधि का एक संक्षिप्त रूप कह सकते हैं। संध्या का अर्थ है 'सम्' = उत्तम प्रकार से 'ध्यै' = ध्यान करना। प्रथम अपने इष्टदेव का भक्ति भावना से विभोर होकर श्रद्धा के साथ ध्यान करना चिन्तन करना। संध्या का दूसरा अर्थ मिलन/ संयोग संबंध है उपासना के समय उपासक का परमेश्वर के साथ संयोग या सम्बन्ध होना। तीसरा अर्थ रात्रि और दिन की संधि बेला में जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं वह संध्या है। संध्या के संकल्प-वाक्य में ही साधक यह संकल्प करता है कि मैं आचरित पापों के क्षय के लिए परमेश्वर के प्रति इस उपासना को सम्पन्न करता हूँ। यजुर्वेद के एक मंत्र का मूल आशय भी यही है कि - मेरे मन-वाणी-शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो उसका मैं विसर्जन करता हूँ।

अन्तर्जगत की भावनाओं को स्पर्श कर पाप-मल से आत्मा को मुक्त करने का उपक्रम नहीं है। इस मंत्र में फिर भी इस प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं -

ओम् सूर्यश्च मान्युश्च मन्युपतयश्च मन्यु कृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् अह्वा यद् रात्र्या पापमकार्य मनसा वाचा हस्ताभ्यांपद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदव लुम्पतु, यत् किंचिद् दूरितं मयि इदमह मापो मृत्-योनी सूर्ये ज्योतिष जुहोमि स्वाहा।

अर्थात् सूर्य नारायण, यक्षपति और देवताओं से मेरी प्रार्थना है – यक्ष विषयक तथा क्रोध से किये हुए पापों से मेरी रक्षा करें। दिन और रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और शिश्न से जो पाप हुए हों उन पापों को में अमृत योनि सूर्य में होम करता हूँ। इसलिए वह उन पापों को नष्ट करें।[152]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में संध्या के द्वारा आचरित पापों के क्षय के लिए प्रभु से अभ्यर्थना की जाती है। इस दृष्टि से यह प्रतिक्रमण का ही मिलता-जुलता रूप है।

बौद्ध परम्परा और प्रतिक्रमण – बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पाप-देशना नाम का उल्लेख मिलता है। बुद्ध की दृष्टि में पाप-देशना का महत्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं कि – खुला हुआ पाप लगा नहीं रहता अर्थात् पापाचरण की आलोचना करने पर व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है। बोधि चर्यावतार में शान्तिदेव ने पाप देशना के रूप में दिन और रात्रि में तीन-तीन बार प्रतिक्रमण का निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि – तीन बार रात में और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध (पापदेशना, पुण्यानुमोदना, और बोधि परिणामना) की आवृति करनी चाहिए। इससे अनजाने में हुई आपत्तियों / स्खलनाओं का उससे शमन हो जाता है।[153]

बौद्ध परम्परा में प्रकृति सावद्य और प्रज्ञप्ति सावद्य की पापदेशना बतायी गयी है। प्रकृति सावद्य वह है जो स्वभाव से निन्दनीय है। जैसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि और प्रज्ञप्ति सावद्य वह है जो व्रत ग्रहण करने के पश्चात् उसका भंग करना जैसे विकाल भोजन, परिग्रह आदि। आचार्य शान्तिदेव कहते हैं – जो भी प्रकृति सावद्य ओर प्रज्ञप्ति सावद्य पाप मुझ अबोध मूढ़ ने कमाये, उन सबकी देशना, दुःख से घबराकर, में प्रभुओं के सामने हाथ जोड़ बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हे नायको ! अपराध को

अपराध के रूप में ग्रहण करो। हे प्रभुओ ! में यह पाप फिर न करूंगा। बौद्ध दर्शन (परम्परा) में प्रवारणा के नाम से पाक्षिक प्रतिक्रमण की परम्परा स्वीकार की गई है। प्रवारणा के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह संघ के सान्निध्य में ही होना चाहिए। बौद्ध परम्परा की विशिष्टता यह है कि उसमें प्रवारणा के समय वरिष्ठ भिक्षु आचरण के नियमों का पाठ करता है और प्रत्येक नियम के पाठ के पश्चात् उपस्थित भिक्षुओं से इस बात की अपेक्षा करता है कि जिस भिक्षु ने उस नियम को भंग किया हो वह संघ के समक्ष उसे प्रकट कर दे।[154]

बोद्ध धर्म में प्रवारणा का अधिक महत्व रहा है वर्षावास के पश्चात् भिक्षु संघ एकत्रित होता और अपने कृत अपराधों/दोषों के सम्बन्ध में गहराई से निरीक्षण करता कि हमारे जीवन में प्रस्तुत वर्षावास में क्या-क्या दोष लगे हैं ? यह प्रवारणा है। इसमें दुष्ट, श्रुत, परशंकित अपराधों का परिमार्जन किया जाता है। पाप के आचरण की आलोचना करने से व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है। जीवन की निर्मलता एवं दिव्यता के लिए पाप देशना आवश्यक है। सुत्तविभंग में दोषों का निरूपण है, उन नियमों के उल्लंधन का भी उल्लेख है जिन्हें भिक्षु प्रत्येक महीने की अमावस्या और पूर्णिमा के दिन स्मरण करता था। इसे दूसरे शब्दों में प्रातिमोक्ष भी कहा जाता है। भिक्षु और भिक्षुणी की दृष्टि से प्रातिमोक्ष के दो विभाग हैं। इनमें भिक्षु और भिक्षुणी के द्वारा नियमोल्लंघन का वर्णन है। जब प्रातिमोक्ष का पाठ प्रारम्भ होता है तब उनमें जिन अपराधों का वर्णन आता है उन अपराधों में से सभा में उपस्थित भिक्षु और भिक्षुणी ने जो-जो अपराध किये हैं वे भिक्षु और भिक्षुणी अपने स्थान से खड़े होकर उन अपराधों को स्वीकार करते हैं। अपराध स्वीकार करने के पीछे यही उद्देश्य है कि भविष्य में वह पुनः इस प्रकार के अपराध की पुनरावृत्ति नहीं करेगा। मंझिमनिकाय में तथागत बुद्ध ने कहा कि प्रातिमोक्ष कुशल

धर्मों का आदि है।

पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पामुखमेतं कुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोक्खं ति।[155]

इस प्रकार वर्ष में एक बार प्रवारणा के समय देखा हुआ, सुना हुआ और शंका किये हुए अपराध की अन्वेषणा होती थी।

पारसी धर्म और प्रतिक्रमण - पारसी धर्म में भी पाप-आलोचन की प्रणाली स्वीकार की गई है। इसमें भी पाप को प्रकट करने का विधान है। खोरदेह अवस्ता पारसी धर्म का मुख्य ग्रन्थ है। उसमें कहा गया है कि - मैंने मन से जो बुरे विचार किये, वाणी से जो तुच्छ भाषण किया और शरीर से जो अकृत्य किये हों, जो भी मैंने दुष्कृत किये हों, हल्का काम किया हो इत्यादि प्रकार से जो-जो गुनाह किये हों उन सबके लिए मैं पश्चाताप करता हूँ। अहंकार, गर्व, मृत व्यक्तियों की निंदा, लोभ, लालच, बेहद गुस्सा, किसी की बढ़ती देखकर जलना, किसी पर बुरी निगाह करना, स्वच्छंदता, आलस्य, कानाफूसी, पवित्रता का भंग, झूठी गवाही, चोरी, लूटखसोट, व्यभिचार, बेहद शौक करना इत्यादि जो गुनाह मुझसे जाने-अनजाने (ज्ञात-अज्ञात रूप से) हुये हों और जो गुनाह साफ-दिल से प्रकट न किये हों उन दुष्कृत्यों को मैं सरल हृदय से प्रकट करता हूँ, उन सबसे मैं अलग होकर पवित्र होता हूँ।[156]

ईसाई धर्म और प्रतिक्रमण - ईसाई धर्म में भी पाप देशना आवश्यक मानी गई है। जेम्स ने धार्मिक अनुभूति की विविधताऐं नामक पुस्तक में इसका विवेचन किया है।[157] ईसाई धर्म के प्रणेता महात्मा यीशु हैं। उन्होंने पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है। पाप को छिपाने से वह बढ़ता है और प्रकट कर देने से वह घट जाता है या नष्ट हो जाता है। इस प्रकार पाप

को प्रकट कर दोषों से मुक्त होने का जो उपाय बताया गया है वह प्रतिक्रमण से मिलता-जुलता है।

वस्तुतः प्रतिक्रमण जीवन शुद्धि का श्रेष्टतम प्रकार है। किसी धर्म में इसकी विस्तार पूर्वक चर्चा है, तो किसी में समास रूप से। पर यह सत्य है कि सभी ने इसको आवश्यक माना है। प्रतिक्रमण पीछे लौटने की प्रक्रिया है। यह एक दीप जला देता है, जिसके प्रकाश में व्यक्ति स्वयं को देख सकता है। कुछ व्यक्तियों के जीवन में तमस इतना गहरा होता है कि एक-दो दीपक कुछ काम नहीं कर सकते। वे लोग पक्ष में एक बार बल्ब जलाकर अपने अतीत को देखने-परखने की चेष्टा करते हैं, इस क्रम में भी उन्हें सफलता न मिलने पर अधिक वोल्टेज वाले बल्ब जलाए जाते हैं। इस उपक्रम में चार महीने का समय लग जाता है। दैनिक, पाक्षिक और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से भी आत्मशोधन पूरा न हो सके तो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है। इसकी तुलना डे-लाइटस् के साथ की जा सकती है। अंधकार कितना ही घना क्यों न हो पूरे वोल्टेज से डे-लाइटस् जला दी जाएं तो अमावस की रात भी दिन में बदल जाती है। फिर भी कहीं-कहीं डे-लाइटस् का उजाला नहीं पहुँच पाता, इसके लिए सूर्य की रोशनी की आवश्यकता होती है, जो पंच वर्षीय युग प्रतिक्रमण के रूप में उदित होता है। इसमें सूर्य की तरह प्रकाशित गुरु की साक्षी में प्रतिक्रमण किया जाता है। मन का अंधकार कितना ही सघन क्यों न हो, इस युग प्रतिक्रमण में गुरु साक्षी (सूर्य) का प्रकाश उसे छिन्न-भिन्न कर ही देता है।

जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपकरण प्रतिक्रमण है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है, आत्म दोषों की आलोचना करने से पश्चाताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चाताप की अग्नि में समस्त दोष जलकर विनष्ट हो जाते हैं। प्रतिक्रमण समस्त व्रत, गुप्ति, योग, और समितियों को शुद्ध करने वाला है, सर्वोत्कृष्ट है, मोक्ष देने वाला है, दोषों

को दूर करने वाला है, अत्यन्त निर्मल है, पापों को नाश करने वाला है, कलंक को दूर करने वाला है और अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला है। आत्मोपासना का यह सुन्दर उपकरण है, जिसमें जीवन को खुली किताब की भाँति पढ़ा जा सकता है, स्वयं को देखने के लिए दर्पणवत् है।

स्वयं पाप पर करे आक्रमण, प्रतिक्रमण कहलाता है।
प्रतिक्रमण ही पापकर्म के, बंधन ढीले कराता है।
प्रतिक्रमण कर क्षमा मॉग, और लौट आत्म स्वभाव में
सुख का सागर लहरायेगा, क्षमा के ही भाव में ।।

सन्दर्भ

1. पडिक्कमणं पुनरावृत्तिफ- आवश्यक चूर्णि
2. अणु से पूर्ण की यात्रा पृ. 425
3. मोक्षमाला (भावना बोध सहित) श्रीमद् राजचंद्र प्रणीत पृ. 120
4. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1233
5. मूलाचार गाथा 26 पृ.32
6. हरिवंश पुराण 34 वाँ सर्ग श्लोक 145 पृ.446
7. मूलाचार प्रदीप अध्याय 4 श्लोक 3-4 पृ. 169
8. भगवती आराधना गाथा 118 की टीका
9. समयसार मोक्षाधिकार पृ. 389
10. तिलोयपण्णत्ति 9/49
11. संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 913
12. रत्नत्रय पारिभाषिक शब्द कोष पृ. 405
13. सर्वार्थसिद्धि अध्याय 7 सूत्र 1 पृ. 264
14. परमात्म प्रकाश टीका अध्याय गाथा पृ. 2/52/173/5
15. उपासकाध्ययन श्लोक 316
16. धर्मामृत अनगार अध्याय 9 श्लोक 85, ज्ञान दीपिका पंजिका पृ. 692
17. मूलाचार उत्तरार्ध शीलगुणाधिकार गाथा 1033 की आचारवृत्ति पृ. 188
18. मूलाचार पूर्वार्ध षडावश्यकाधिकार गाथा 634 की आचारवृत्ति पृ. 467
19. धवला पुस्तक 8 खंड 3 सूत्र 41 पृ.84 गाथा 6
20. कषाय पाहुड पुस्तक 1 गाथा 1 पृ. 105 टीका 89

21. मूलाचार पूर्वार्ध षडावश्यकाधिकार गाथा 615 की आचारवृत्ति पृ. 453
22. तत्त्वार्थभाष्य हरिभद्र वृत्ति 1418
23. मूलाचार प्रदीप अध्याय 4 श्लोक 71-72 पृ.173-174
24. मूलाचार पूर्वार्ध मूलगुणाधिकार: गाथा 27 की आचारवृत्ति पृ.34
25. मूलाचार पूर्वार्ध षडावश्यकाधिकार गाथा 634 की आचारवृत्त पृ. 467
26. योगसार अमितगति अधिकार 5 श्लोक पृ. 50
27. नियमसार परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार गाथा 82 की तात्पर्यवृत्ति पृ. 207
28. समयसार मोक्षाधिकार गाथा 328 पृ. 290 (जयसेन स्वामी टीका)
29. अष्ट पाहुड भाव प्राभृतम् गाथा 77 पृ. 413 (श्री श्रुतसागर सूरि, संस्कृत टीका)
30. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 57 ज्ञान दीपिका पंजिका टीका पृ. 595
31. तत्त्वार्थवृत्ति 1-20
32. राजवार्तिक अध्याय 6 सूत्र 24 टीका 11 पृ. 331
33. धर्मामृत अनगार अध्याय 9, श्लोक 9 पृ. 648
34. राजवार्तिक अध्याय 9 सूत्र 22 टीका 3 पृ. 633
35. गोम्मटसार जीवकाण्ड जीव तत्त्व प्रदीपिका भाग 2 टीका गाथा 367 पृ. 614
36. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 57 आचारवृत्ति पृ. 595
37. धर्मामृत अनगार अध्याय 9 श्लोक 9/3 आचारवृत्ति पृ. 648
38. हरिवंशपुराण सर्ग 34 श्लोक 145 पृ. 446

39. योगशास्त्र स्वोपज्ञ वृत्ति तृतीय प्रकाश 130

40. जीतकल्प गाथा 9-11

41. आराधना समुच्चयम् चारित्राराधना श्लोक 88 की हिन्दी टीका पृ. 144

42. अष्टपाहुड संस्कृत टीका (श्री श्रुतसागर सूरि) भावप्राभृतम् 5 गाथा 78 की टीका पृ. 415

43. धर्मामृत अनगार अध्याय 7 श्लोक 47 पृ. 517

44. क – सर्वार्थ सिद्धि अध्याय 9 सूत्र 22 की टीका 862 पृ. 346
ख – तत्त्वार्थवार्तिक भाग 2 अध्याय 9 सूत्र 22 टीका पृ. 621

45. तत्त्वार्थसार षष्ठाधिकार श्लोक 23 पृ. 181

46. भगवती सूत्र/सभाष्य तत्त्वार्थधिगमसूत्र अध्याय 9 सूत्र 22 पृ. 416

47. तत्त्वार्थवृत्ति कार्तिकेय टीका अध्याय 9 सूत्र 22 पृ. 302

48. आवश्यक सूत्र

49. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पृ. 417

50. क – परमात्मद्वात्रिशिका श्लोक 5
ख – प्रवचन सारोद्धार

51. स्थानांग सूत्र अभय वृत्ति 168

52. प्रबोधसार अध्याय 2 श्लोक 162 पृ. 119

53. समयसार नवम् सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार गाथा 389, कलश काव्य 226 का भावार्थ पृ. 474

54. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा 10 की टीका पृ. 30

55. आचारसार अधिकार 3

56. मूलाचार उत्तरार्ध अध्याय 10 समयसाधिकार गाथा 911 की आचारवृत्ति पृ. 119

57. आराधना समुच्चयम् सम्यक् तप आराधना श्लोक 111 हिन्दी टीका पृ. 173

58. पंचाशक प्रकरणम् द्वादश साधु समाचारी विधि श्लोक 10-13 पृ. 205-206

59. आवश्यक सूत्र, इरिया वहिया पाठ

60. नियमसार प्राभृत परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार गाथा 82 की टीका पृ. 191

61. प्रतिक्रमण पंजिका पृ. 112

62. मूलाचार पूर्वार्ध षडावश्यकाधिकार गाथा 516 की आचार वृत्ति पृ. 392

63. मूलाचार पूर्वार्ध पंचाराधिकार गाथा 362 की आचार वृत्ति पृ. 293

64. क - मूलाचार पूर्वार्ध षडावश्यकाधिकार गाथा 616 की आचार वृत्ति पृ. 455
ख - नियमसार प्राभृत गाथा 82 की संस्कृत टीका पृ. 193

65. मूलाचार प्रदीप चतुर्थ अधिकार श्लोक 20 पृ. 171-172

66. गोम्मटसार जीवकाण्ड द्वितीय भाग गाथा 367 की संस्कृत टीका पृ. 614

67. समयसार कलश काव्य 189 पृ. 170

68. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 63 की ज्ञान पंजिका पृ. 600

69. मूलाचार पूर्वार्ध मूलगुणाधिकार गाथा 26 की आचारवृत्ति पृ. 33

70. क - भगवती आराधना गाथा 6 की विजयोदया टीका पृ. 20,
ख - मूलाचार पूर्वार्ध गाथा 26, 35 की आचार वृत्ति पृ. 33, 46

71. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 64 की ज्ञान दीपिका पंजिका पृ. 601

72. समयसार नवम् सर्व विशुद्धज्ञानाधिकार गाथा 383 पृ. 465

73. समयसार नवम् सर्व विशुद्धज्ञानाधिकार गाथा 383 आत्मख्याति तात्पर्य वृत्ति टीका पृ. 466

74. योगसार प्राभृत अधिकार 5 श्लोक 50 पृ. 111

75. योगशास्त्र तृतीय प्रकाश स्वोपज्ञ वृत्ति आचार्य हेमचंद्र

76. आराधना समुच्चयम् सम्यक् तप आराधना श्लोक 111 की हिन्दी टीका पृ. 173

77. मूलाचार पूर्वार्ध षडावश्यकाधिकार गाथा 616 पृ. 455

78. मूलाचार प्रदीप चतुर्थ अधिकार श्लोक 20 पृ. 171

79. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 61 की ज्ञान दीपिका पंजिका पृ. 597

80. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा 118 पृ. 156

81. आवश्यक चूर्णि

82. क – मूलाचार गाथा 619 , 625, 627 पृ. 457,461,462
ख– धर्मामृत अनगार पृ.599

83. नव प्रभात सप्तम वाचनक खण्ड पृ. 267

84. आवश्यक निर्युक्ति (हारिभद्रीया वृत्ति)

85. क – मूलाचार गाथा 625–627 पृ. 461–462
ख – अणु से पूर्ण की यात्रा पृ. 429
ग – नव प्रभात पृ. 267

86. पारिभाषिक शब्द कोष पृ. 212

87. नियमसार गाथा 83

88. प्रवचन सार तात्पर्यवृत्ति 207/281/14

89. क – भगवती आराधना विजयोदया टीका, गाथा 511 पृ. 381
ख – बारस अणुवेक्खा सर्वोदया टीका पृ. 674

90. मूलाचार अध्याय 3 गाथा 120 पृ. 103

91. क – भगवती सूत्र
ख – आचार्य हरिभद्र आवश्यक निर्युक्ति

92. मूलाचार वृत्ति गाथा 120 पृ. 104

93. मूलाचार आचार वृत्ति गाथा 619 पृ. 458

94. क – धर्मामृत अनगार 57 पृ. 594
ख – मूलाचार गाथा 615 पृ. 453
ग – कषायपाहुड भाग 1 (6,1/88/113/6) , गोम्मटसार जीवकाण्ड 367/ पृ. 614/3

95. ठाणांग 5/3/467 , स्थानांग सूत्र 5 , 3 सूत्र 222

96. क – मूलाचार गाथा 614पृ. 452 –453
ख – धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 59 – 60 पृ. 597
ग – भगवती आराधना विजयादया टीका गाथा 118 पृ.155– 156
घ – मूलाचार प्रदीप पृ. 169 –170 अध्याय 4 श्लोक 43– 49

97. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 पृ. 596

98. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 पृ. 597 से उद्घृत

99. आवश्यक सूत्र 4/21

100. रत्नत्रय पारिभाषिक शब्द कोष पृ. 451

101. क – तिल्लोपण्णति भाग 2 गाथा 292 पृ.83
ख – जैन दर्शन पारिभाषिक शब्द कोष पृ. 265 , रत्नत्रय पारिभाषिक शब्द कोष पृ. 274

102. भगवान महावीर हिन्दी अंग्रजी जैन शब्द कोष

103. धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 58 की ज्ञानदीपिका पंजिका पृ. 596

104. नियमसार प्राभृत अध्याय 5 परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार गाथा 82 की

स्याद्वाद चन्द्रिका टीका पृ. 193

105. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक 85 – 86 पृ.43

106. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश भाग । परिशिष्ट पृ.483 तथा जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 2 पृ.68

107. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 2 पृ.69

108. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक 87 – 88 पृ.44

109. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक 101 पृ.48

110. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 1 पृ.316 एवं दिगम्बरत्व की खोज पृ. 308

111. जैन साहित्य ज्ञान विज्ञान का विश्व कोश पृ.210

112. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पृ.71 षड्खण्डागम धवला पु. 1 की प्रस्तावना पृ.12

113. षड्खण्डागम धवला पु. 1 खंड 1 सूत्र 1 पृ.68

114. षड्खण्डागम सिद्धान्त चिन्तामणि टीका समन्वित खंड 1 भाग 1 प्रथम महाधिकार सूत्र 1 पृ. 89 90

115. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक 106 से 110 पृ.49 51

116. स्वानंद विद्यामृत भाग 2 पृ. 30 31

117. श्रवणबेलगोल अभिलेख संख्या 105 पद्य 25 26 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग 2 पृ.56 षड्खण्डागम परिशीलन पीठिका पृ. 18 से उद्धृत

118. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 2 पृ.72 , जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 1 पृ. 484

119. हरिवंश पुराण सर्ग 1 श्लोक 29 40 पृ.

120. षड्खण्डागम पीठिका पृ. 19

121. षड्खण्डागम धवला खंड 1 सूत्र 1 प्रस्तावना पृ. 24

122. भगवान महावीर हिन्दी अंग्रजी जैन शब्द कोष पृ. 438

123. षड्खण्डागम धवला खंड 1 सूत्र 1 प्रस्तावना पृ. 12, 11

124. षड्खण्डागम धवला खंड 1 भाग 1 सूत्र 1 की टीका प्रथम महाधिकार पृ.90

125. क – जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 2 पृ.52
ख – श्री पुष्कर मुनि अभिन्नद ग्रन्थ पृ.156
ग – स्थानांग सूत्र की प्रस्तावना पृ. 18–20
घ – तित्थोगाली गाथा 714, आवश्यकचूर्णि भाग 2 पृ. 187, परिशिष्ट पर्व सर्ग 9 श्लोक 55–70

126. क – श्री पुष्कर मुनि अभिन्नद ग्रन्थ पृ.156, स्थानांगसूत्र प्रस्तावना पृ. 22
ख – भारतीय इतिहासः एक दृष्टि पृ. 144, जैन साहित्य का वृहद इतिहास भाग 1 पृ. 82
ग – प्रशममूर्ति आचार्य शांतिसागर छाणी स्मृति ग्रंथ सम्पादकीय पृ. 3
घ – भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाड्मय का अवदान द्वितीय खण्ड पृ. 108
ड़ – जर्नल ऑफ दी विहार एण्ड उडीसा रि. सो. भाग 13 पृ. 336,
च – जैन साहित्य ज्ञान विज्ञान का विश्वकोष पृ. 117, 152, 153

127. श्री पुष्कर मुनि अभिन्नद ग्रन्थ पृ.156, स्थानांगसूत्र प्रस्तावना पृ. 22 से 26

128. वही पृ. 157 एवं मेरा जीवनफमेरा दर्शन आत्मकथा 8 पृ. 322 - 324

129. वन्दे तद्गुणलब्धये हिन्दी पृ. 189 , 93

130. मेरी स्मृतियाँ पुस्तक वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला का पुष्प नं. 124 पृ.

377

131. मेरी स्मृतियाँ पृ. 282 तथा चारित्र चन्द्रिका पृ. 179

132. विराग वाटिका पृ. 207 – 211

133. विराग वाणी वर्ष 7 द्ध12ऋ अंक 2 मई 2012 पृ. 46

134. क – मूलाचारपूर्वार्ध अध्याय 7 षडावश्यकाधिकार गाथा 628–632 तथा आचारवृत्ति पृ. 462 से 465

ख – धर्मामृत अनगार अध्याय 8 श्लोक 62 की ज्ञान दीपिका पंजिका पृ. 599

ग – नियमसार प्रभृति परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार पृ. 215

घ – आवश्यक निर्युक्ति / स्थितास्थित कल्पविधि प०चाशक अध्याय 7 पृ. 305 – 306

ड – मूलाचार प्रदीप अध्याय 4 श्लोक 81–84 पृ. 175

च – जैन धर्म का मौलिक इतिहास पृ. 489, सप्ततिशत स्थान प्रा. गाथा 286

छ – आवश्यकचूर्णि भाग 2 पृ. 66, आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1241–1244

135. नियमसार प्राभृत पृ.215

136. क – धर्मामृत अनगार अध्याय 8 पृ. 595 से उद्‌घृत

ख – स्थानांग सूत्र 6/537 – 538

137. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1250 – 1267

138. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1268

139. जैन बौ) तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. 401

140. राजवार्तिक – 9/22/3/121/18

141. क – चारित्रसार 141/4/ आराधना समुच्चयम श्लोक 111 की

हिन्दी ठीका पृ. 173
ख – धर्मामृत अनगार अध्याय 7 श्लोक 47 की ज्ञान दीपिका पंजिका पृ. 517

142. आचारसार अधिकार 6 श्लोक 41
143. धवला पुस्तक 13 खंड 5 भाग 4 सूत्र 26
144. धवला पुस्तक 13 खंड से 5 भाग 4 सूत्र 26
145. मूलाचार प्रदीप अध्याय 4 श्लोक 72 पृ.174
146. मुनि मनोरजनाशीति श्लोक पृ. 19 पं भूरामल शास्त्री ‰आचार्य ज्ञानसागर जीऱ
147. उतराध्ययन सूत्र अध्याय 29 सूत्र 12
148. नियमसार परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार गाथा 85 की तात्पर्य वृति पृ. 207
149. नियमसार परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार गाथा 83
150. ;ग्वेद 10/5/6
151. विष्णु पुराण 2/6/40, गौतम धर्मसूत्र 19/11
152. कृष्ण यजुर्वेद उद्धृत – दर्शन और चिन्तन भाग 2 पृ. 193
153. उदान 5/5, बोधिचर्यावतार 5/98
154. बोधिचर्यावतार 2/64-66
155. गोपक मोग्गलानसुत्त मिझमनिकाय 3/1/8
156. खोरदेह अवस्ता पृ. 5/23-24 उद्धृत दर्शन और चिन्तन भाग 2 पृ. 193-194
157. वेराइठी ऑफ रिलिजीयस पृ.452 जेम्स लांगमन्स ग्रीन एण्ड को. लन्दन 1935
उद्धृत जैन बौ) तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. 404